

## द्वितीय-अध्याय

वैदिक काल में वर्णव्यवस्था का विकास –

ऋग्वैदिक काल के प्रारम्भिक चरण में वर्ण-व्यवस्था नहीं थी। अपितु उस समय समाज में केवल दो जाति-समूह थे। एक 'आर्य' दूसरा (दास) अनार्य। ऋग्वेद 'वर्ण' शब्द का प्रयोग आर्य<sup>1</sup> और दास<sup>2</sup> के लिए हुआ है किंतु इसमें किसी ऐसे श्रम-विभाजन का संकेत नहीं मिलता जो परवर्ती काल में समाज के व्यापक वर्गीकरण का आधार हुआ। आर्य वर्ण और दास वर्ण दो वृहद् जनजातीय समूह थे जो सामाजिक वर्गों के रूप में विघटित हो रहे थे। आर्य और अनार्य (दास) वर्ग में प्रायः युद्ध होता रहता था। आर्य आक्रामक थे और अनार्य आक्रान्त। अतः इन दोनों वर्गों के धार्मिक और सांस्कृतिक आचरणों में अन्तर थे। इन अन्तर को व्यक्त करने के लिए ऋग्वेद में एक वर्ग को 'आर्य' वर्ण और दूसरे 'दास' वर्ण अनार्य वर्ण कहा गया है। दास (अनार्य) को दस्यु भी कहा गया है।<sup>3</sup> 'असुर' वर्ण और 'कृष्ण' वर्ण भी उनके लिए प्रयुक्त हुआ है।<sup>4</sup> घुर्ये 'दास' और 'दास्यु' अनार्य को एक मानते हुए स्थानीय निवासी माना है। और विचार व्यक्त किया कि ऋग्वैदिक आर्यों ने देश में अपना स्थान बनाने के लिए 'दासों' अनार्यों को पराजित किया।<sup>5</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि ये दास मनुष्य ही रहे होंगे। वेदों में कहा गया है कि इंद्र ने अधम दास वर्ण को गुफाओं में रहने को बाध्य कर दिया था।<sup>6</sup> विश्व-नियंता की हैसियत से दासों को पराधीन बनाने का

---

<sup>1</sup> वही, III 4.9

<sup>2</sup> ऋग्वेद, 1.104.2, III 349, "देवासो मन्युं दासस्य श्चमन्ते न आवक्षन्त्सुविताय वर्णम्।

<sup>3</sup> वही 9.71.2 : 1090.2

<sup>4</sup> वही 4.16.13

<sup>5</sup> धुर्ये : वैदिक इंडिया पृ० 205, 1979 :घोष द सिटी इन अर्ली हिस्टोरिकल इंडिया।

<sup>6</sup> ऋग्वेद II, 12.4 "येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि, यो दासं वर्णमधरं गुह्यक।

भार उनके ऊपर है,<sup>7</sup> और उनसे यह भी अनुरोध है कि वे इन दासों का विनाश करने के लिए तैयार रहें।<sup>8</sup>

दूसरे वर्ग के लिए 'आर्य वर्ण' का कई बार उल्लेख किया गया है। एक स्थान पर वर्णन किया गया है कि इन्द्र ने दास्युओं (दास) को मारकर आर्य वर्ण की रक्षा की, आर्य और अनार्य जनजातियों के मध्य होने वाला संघर्ष का उल्लेख ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर हुआ है। एक आर्य कहता है कि .....वे मानव नहीं हैं, रिपुदमन, उनका वध कर डालो दास-समुदाय को नष्ट कर दो।<sup>9</sup> महत्व की बात है कि दास्युओं की हत्या की चर्चा कम से कम बारह जगहों पर हुई है जिनमें से अधिकांश हत्याएँ इन्द्र के द्वारा ही बताई गई हैं।<sup>10</sup> इसके विपरीत यद्यपि दासों की हत्या के अलग-अलग प्रसंग भी आए हैं, किंतु 'दासहत्या' शब्द कहीं नहीं मिलता है। इससे पता चलता है कि दास और दास्यु पर्यायवाची नहीं थे और दास्युओं का विनाश निर्ममतापूर्वक करते थे, पर दासों के प्रति उनकी नीति नरम थी। वेदों में दासों की अपेक्षा दास्युओं के विनाश और पराधीन बनाने की चर्चा अधिक है। कहा गया है कि दास्युओं को मारकर इन्द्र ने आर्य वर्ण की रक्षा की है।<sup>11</sup> आर्यों और उनके शत्रुओं के बीच जो संघर्ष हुए, उनमें मुख्यतः शत्रुओं के किलो दासों और दास्युओं, दोनों ही के कब्जे में अनेक किलाबंद बस्तियाँ थीं।<sup>12</sup> जिनका संबंध भी सामान्यतया आर्यों के शत्रुओं के साथ जोड़ा जाता है।<sup>13</sup> दूसरी ओर यह भी संभव है कि आर्यों के शत्रु उने घोड़ों और रथों

<sup>7</sup> ऋग्वेद, V. 34.6— 'यथावशं नयति दासमार्यः,

<sup>8</sup> वही, II, 13.8 — 'दासवेशाय चावः'

<sup>9</sup> ऋग्वेद, 9.71.2, 10.22.8

<sup>10</sup> ऋग्वेद 1.51.5.6

<sup>11</sup> वही, III 34.9 — हत्वी दास्युन् प्रात्वर्णमावत्।

<sup>12</sup> ऋग्वेद, 1, 103.3, II 19.6

<sup>13</sup> वही, 1.33.13, 53.8

को अधिक महत्व देते थे। ऋग्वेद में एक कथा मिलती है असुरों ने राजर्षि दधीति के नगर पर कब्जा कर लिया था किंतु जब असुर लौट रहे थे तो इंद्र ने उन्हें घेरकर पराजित किया और उनसे मवेशी, घोड़े तथा रथ छीनकर राजर्षि को वापस कर दिए।<sup>14</sup>

दस्युओं के रहन-सहन के ढंग से भी आर्य उनके शत्रु बन गए। आर्यों का जीवन प्रधानता जनजातीय जीवन था, जो गण, सभा, समिति और विदथ जैसी विभिन्न सामुदायिक संस्थाओं के माध्यम से रूपायित हुआ है, और जिसमें यज्ञ का बहुत महत्वपूर्ण स्थान था। किंतु दस्युओं को यज्ञ से कोई सरोकार नहीं था। दासों के साथ भी यही बात थी, क्योंकि इंद्र के बारे में बताया गया है कि वह दास और आर्य का विभेद करते हुए यज्ञस्थल में आता था।<sup>15</sup> ऋग्वेद के सातवें मण्डल का एक सम्पूर्ण सूक्त अक्रतुन्, अश्रदान् अयज्ञान् और अयज्वानः जैसे विशेषणों की श्रृंखला मात्र है। इनका प्रयोग दस्युओं के लिए पूरे तौर पर यह सिद्ध करने के लिए किया गया है कि उनको यज्ञ पसंद नहीं था।<sup>16</sup> अनिद्र (इंद्र को न मानने वाला) शब्द का प्रयोग भी कई स्थलों पर किया गया है, और अनुमानतः इससे दस्युओं, दासों और संभवतः कुछ भिन्न मतावलंबी आर्यों का बोध होता है। ऐसा विश्वास था कि दस्यु विश्वासघाती होते हैं, वे आर्यों की तरह धर्म-कर्म नहीं करते और उनमें मानवता नहीं होती।<sup>17</sup> पी०वी० काणें के कथनानुसार आर्यों और दस्युओं के रहन-सहन में जो अन्तर है, उससे आर्यों के व्रत, जिसका अर्थ सामान्यतया जीवन का सुनिश्चित ढंग होता है, के प्रति

---

<sup>14</sup> वही, II 15.4

<sup>15</sup> ऋग्वेद, X 86.19

<sup>16</sup> ऋग्वेद, VII.6.3

<sup>17</sup> ऋग्वेद, X 22.8

दस्युओं की क्या दृष्टि थी इसका पता चलता है।<sup>18</sup> यदि व्रत और व्रात, जिसका अर्थ जनजातीय दल या समूह होता है, के बीच संबंध स्थापित करना संभव हो तो यह कहा जा सकता है कि व्रत शब्द का अर्थ जनजातीय कानून या प्रथा है। दस्युओं को साधारणतः अव्रत<sup>19</sup> और अन्यव्रत<sup>20</sup> कहा गया है। अपव्रत शब्द का प्रयोग दो स्थलों पर हुआ है जो प्रायः दस्युओं और भिन्न मत रखने वाले आर्यों के लिए है।<sup>21</sup> इससे स्पष्ट होता है कि दासों के लिए इस प्रकार के विशेषणों का प्रयोग नहीं हुआ है जिससे मालूम होता है कि वे दस्युओं की अपेक्षा आर्यों के तौर तरीके अधिक पसंद करते थे।

ऐसा लगता है कि आर्यों और उनके शत्रुओं में रंग का अंतर था। आर्य, जो मानव (मानुषी प्रजा) कहे जाते थे, और अग्नि वैश्वानर की पूजा करते थे, कभी-कभी काले रंग वाले मनुष्यों (असिक्नीविशः) की बस्तियों में आग लगा देते थे और वे लोग संघर्ष किए बिना ही अपना सर्वस्व छोड़कर भाग खड़े होते थे।<sup>22</sup> आर्य देवता सोम को काले वर्ण के लोगों का हिंसक कहा गया है, जो दस्यु होते थे।<sup>23</sup>

ऋग्वेद में कई स्थानों पर वर्ण का अर्थ रंग या 'प्रकाश' मिलता है। कहीं-कहीं, यथा 2/12/4 एवं 1/17/6 में वर्ण का सम्बन्ध ऐसे जनगण से

<sup>18</sup> पी0वी0काणे, 'दि वर्ड व्रत इन दि ऋग्वेद' जर्नल ऑफ दि बाम्बे ब्रांच ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, पृ0 12

<sup>19</sup> ऋग्वेद, 1.51.8-9, किंतु 'अव्रत' शब्द का प्रयोग कहीं भी दास के लिए नहीं किया गया है।

<sup>20</sup> वही, VIII. 70 11, X 22.8

<sup>21</sup> वही, V. 42.9, V 40.6 में 'अपव्रत' शब्द का अर्थ 'काला' माना गया है।

<sup>22</sup> वही, VII. 5.2-3 गेल्डर का अनुवाद, बी0बी0 लालः

<sup>23</sup> ऋग्वेद, IX. 41.1-2 'धन्तः कृष्णं आप त्वचं .....साहवाम्सो दास्युमव्रतम्' ।।

है जिनका चर्म काला है या गोरा।<sup>24</sup> तैत्तिरीय ब्राह्मण (1/2/6) में आया है कि ब्राह्मण देवी वर्ण है और शूद्र असुर्य वर्ण है।<sup>25</sup>

‘असुर्य वर्ण’ का अर्थ है ‘शूद्र जाति’। ऋग्वेद में आर्यों एवं दासों या दस्यु लोगों की अमित्रता के विषय में बहुत-सी सामग्रियां मिलती हैं। इस विषय में दासों को हराने एवं आर्यों की सहायता करने पर इन्द्र एवं अन्य देवताओं की स्तुति गायी गयी है। (ऋग्वेद— 1/51/9, 1/103/3) दस्यु एवं दास दोनों एक ही हैं (ऋग्वेद—10/22/8)। दस्यु लोग अत्रत (देवताओं के नियम-व्यवहारों को न मानने वाले) एवं अपनासः (शब्द का अर्थ नासाविहीन या चिपटी नाक वाला) और दासों के प्रसंग में प्रयुक्त वृषशिप्र<sup>26</sup> शब्द का अर्थ वृषभ ओष्ठवाला’ या उभरे ओठों वाला माना जाए तो यह मालूम पड़ेगा कि मुखाकृतियों की दृष्टि से आर्यों के शत्रु उनसे भिन्न प्रकार के थे। मृधवाचः (जिनकी बोली स्पष्ट एवं मधुर न हो)— ऋग्वेद में मृधवाक’ शब्द का प्रयोग विभिन्न रूप में छः स्थलों पर हुआ है,<sup>27</sup> जिससे पता चलता है कि आर्यों और उनके शत्रुओं में बोलचाल की रीति भिन्न थी। यह दो स्थलों पर दस्युओं का विशेषण है।<sup>28</sup> सायण ने इसका अर्थ ‘विद्वेषपूर्ण वचन’ वाला किया है, और गेल्डनर ने इसे ‘झूठ बोलने वाले’ का पर्याय माना है।<sup>29</sup> इससे पता चलता है कि आर्यों और दस्युओं में कोई भाषाजन्य अंतर था और दस्यु अपनी अनुचित वाणी से आर्यों की भावना को चोट पहुँचाते थे। अतः आर्यों और उनके दुश्मनों के बीच

<sup>24</sup> यो दास वर्णमधरं गुह्य कः। ऋग्वेद (2/12/4) ; उभौवर्णावृषिरुग्रः पुपोष, ऋग्वेद (1/17/96)

<sup>25</sup> तै0ब्रा0, 1/2/6—ब्राह्मणश्च शूद्रश्चाचर्मकर्तो न्यायच्छेते। वैश्यों वौवर्णो ब्राह्मणः, असुर्यः शूद्रः।

<sup>26</sup> वही, VII. 99.4

<sup>27</sup> वही, 174.2, ‘हू वेयर दि शूद्राज’ पृ0 71 में है।

<sup>28</sup> वही, VII. 29.10, VII. 6.3

<sup>29</sup> वही, 1.74.2

युद्ध में यद्यपि मुख्य प्रश्न पशु रथ और अन्य प्रकार की संपत्ति को दखल करने का रहता था, फिर भी जाति, धर्म और बोलचाल की रीति में अंतर होने के कारण भी उनके संबंध कटु बने रहते थे। अक्कतु (यज्ञ न करने वाले) दासों एवं दस्युओं को कभी-कभी असुर की उपाधि भी दी गयी है।

यदि ऋग्वेद में दास और दस्यु शब्द के प्रयोग की आपेक्षिक मात्रा से कोई निष्कर्ष निकाला जा सके, तो जान पड़ता है कि दस्युगण, जिनकी चर्चा चौरासी बार हुई है, स्पष्टतः दासों से अधिक संख्या में थे जिनका उल्लेख इकसठ बार हुआ है।<sup>30</sup> दस्युओं के साथ युद्ध में अधिक रक्तपात हुआ। अपने विस्तार की आरंभिक अवस्था में आर्यों को जीविकोपार्जन के लिए पशुधन की आकांक्षा रहती थी। इसलिए स्वभावतया उन्होंने नगर जीवन और संगठित कृषि का महत्व समझा।<sup>31</sup> ऐसा जान पड़ता है कि आर्यों के आने के पहले नगर बस्तियाँ पूर्णतः ध्वस्त हो गई थीं। युद्ध में शत्रुओं से अपहृत वस्तुओं, खासकर मवेशियों के कारण सरदारों और पुरोहितों की शक्ति बढ़ी होगी कि पुरानी संस्कृति के किसानों से श्रमिकों का काम लिया जा सकता है और उनसे कृषि कार्य कराय जा सकता है, साथ ही अपनी जनजाति के लोगों से भी श्रमिकों का काम लेना उन्होंने धीरे-धीरे आरंभ किया होगा।

आर्यों और उनके शत्रुओं के बीच संघर्ष चल ही रहा था, आर्य जनजातीय समाज में भी आंतरिक द्वंद्व विद्यमान था। एक युद्धगीत में 'मन्यु'— मूर्तिमान क्रोध से याचना की गई है कि वे आर्य और दास दोनों तरह के शत्रुओं को पराजित

<sup>30</sup> यह गिनती विश्वबंधु शास्त्री के वैदिक कोश पर आधारित है।

<sup>31</sup> व्हीलर : पूर्व निर्दिष्ट, पृ० 8

करने में सहायक हों।<sup>32</sup> ऋग्वेद में एक स्थल पर कहा गया है कि इंद्र और वरुण ने सुदास के विरोधी दासों और आर्यों का संहार कर उसकी रक्षा की।<sup>33</sup> विल्सन ने ऋग्वेद के एक परिच्छेद का जैसा अनुवाद किया है उसे यदि स्वीकार किया जाए तो उसमें इंद्र की भरपूर प्रशंसा की गई है, क्योंकि उन्होंने सप्तसिंधु (सात नदियों) के तट पर राक्षसों और आर्यों से लोगों की रक्षा की। उनसे यह भी अनुरोध किया गया कि वे दासों को अस्त्र-शस्त्र विहीन कर दे।<sup>34</sup> गेल्डनर इस परिच्छेद का अर्थ लगाते हैं कि इंद्र ने दासों के अस्त्रों का आर्यों से विमुख कर दिया।

ऋग्वेद में आर्य शब्द का प्रयोग छत्तीस बार हुआ है जिनमें से नौ स्थलों पर बताया गया है कि खुद आर्यों में आपसी मतभेद थे।<sup>35</sup> ऋग्वेद के आरंभिक भाग में ऐसे पांच प्रसंग आए हैं, जिनसे पता चलता है कि आंतरिक संघर्षों की परंपरा बहुत ही पुरानी थी। आर्यों में बहुत पहले जो आंतरिक संघर्ष हुए थे, उनका सबसे महत्वपूर्ण प्रमाण 'दशराज्ञ' युद्ध है जो ऋग्वेद में एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है। गेल्डनर के अनुसार ऋग्वेद, मंडल सात का तैंतीसवाँ सूक्त, जिसमें इस युद्ध की चर्चा की गई है, प्रारंभिक काल से संबंधित है।<sup>36</sup> दस राजाओं का युद्ध मुख्यतः ऋग्वेद कालीन आर्यों की दो मुख्य शाखाओं 'पुरुओं' और 'भारतों' के बीच हुआ था, जिसमें आर्यतर लोग भी सहायक के रूप में सम्मिलित हुए होंगे।<sup>37</sup> ऋग्वेद का सुविख्यात नायक सुदास भारतों का नेता था

<sup>32</sup> ऋग्वेद, VII. 83.1 साझाम दासमार्य त्वयायुजा सहस्कृतेन सहसा सहस्वता ।

<sup>33</sup> ऋग्वेद, VII. 83.1 'दासाच वृत्रा हतमार्याणि च सुदासम् इन्द्रावरुणावसावतम् ।

<sup>34</sup> ऋग्वेद, VIII. 24.27 'य ऋक्षादंहसो मुचद्योवार्यात् सप्तसिन्धुषु, वधर्दासस्य तुविनृम्ण नीनम; ।

<sup>35</sup> ऋग्वेद, VI. 33.3; 60.6;

<sup>36</sup> वैदिक इंडेक्स, 1, 356.

<sup>37</sup> ऋग्वेद, VII. 33.2-5, 83.8 - वास्तविक युद्ध- स्तुति ऋग्वेद, VII-18 में है ।

और पुरोहित वसिष्ठ उसके सहायक थे। इनके शत्रु थे पाँच प्रसिद्ध जनजातियों तथा 'अनु', 'द्रुह्यु', 'यदु', 'तुर्वशस्' और पुरु तथा पाँच गौण जनजातियों यथा 'अलिन', 'पक्थ', 'भलानस', 'शिव' और 'विषाणिन' के दस राजा। विरोधी गुट के सूत्रधार ऋषि विश्वामित्र थे और उसका नेतृत्व पुरुओं ने किया था। दास काले रंग के होते थे।<sup>38</sup> अन्य आर्यों के प्रति वैरभाव के कारण पुरुओं को ऋग्वेद, VII. 18.13 में मृध्रवाचः कहा गया है।

इन दस कबीलों में सबसे अधिक शक्तिशाली 'पुरु' था भरत जन के पश्चिम में था तथा जिसका राजा 'पुरुकुत्स' इस युद्ध में मारा गया। ऋग्वेद में उल्लेख है कि भरत कबीले के राजा सुदास के प्रधान पुरोहित विश्वामित्र थे जिन्होंने 'विपासा' और 'शतुद्रि' नदी के तटों पर उनके विजय अभियान में मार्गदर्शन किया था। बाद में सुदास ने विश्वामित्र को हटाकर वसिष्ठ को अपना प्रधान पुरोहित बना लिया। इससे अपमानित होकर विश्वामित्र ने सुदास के विरुद्ध दस कबीलों का महासंघ संगठित किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युद्ध में आर्यों की लघुतर जनजातियों ने अपना अलग अस्तित्व बनाए रखने का स्मरणीय प्रयास किया। पर सुदास के नेतृत्व में भारतों ने परुष्णि (रावी) नदी के किनारे उन्हें पूरी तरह हरा दिया। कारणों ने ऋग्वेद से पाँच अंश उद्धृत किए हैं जिनका ऐसा अर्थ लगाया जा सकता है।<sup>39</sup> आदियुगीन ऋषि अथर्वण ने वरुण के साथ हुए संभाषण में यह दावा किया है कि मैं जो नियम बनाऊँगा उसका उल्लंघन कोई भी दास, जो आर्य से भिन्न हो, नहीं कर सकता चाहे वह कितना

<sup>38</sup> आर.सी. मजूमदार और ए.डी. पुसलकर : वैदिक एज पृ0 245.

<sup>39</sup> पी0वी0 काणे: पूर्व निर्दिष्ट (जर्नल आफ दि बाम्बे ब्रांच ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी) बम्बई न्यू सीरीज, XXIX. II.



भी बड़ा क्यों न हो।<sup>40</sup> इस वेद में एक अन्य युद्ध का भी उल्लेख है जो सुदास और तीन अन्य जनो, अजिय, सिगुरु और यक्षु के बीच लड़ा गया। यह युद्ध यमुना तट पर लड़ा गया जिसमें सुदास की विजय हुयी। इस वेद में सरस्वती के तट पर स्थित 'चित्र' नामक जन का उल्लेख हुआ है। म्यूर ने ऋग्वेद से ऐसे अट्ठावन अंश उद्धृत किए हैं जिनमें आर्य समुदाय के सदस्यों की धार्मिक शत्रुता या उदासीनता की भर्त्सना की गई है।<sup>41</sup> इनमें से बहुत से परिच्छेद ऋग्वेद के मूल भाग (मंडल दो से आठ) में उपलब्ध है और उनसे पता चलता है कि चलता है कि आदिकाल में आर्यों की स्थिति कैसी थी। इनमें से कई अंश उन अनुदार व्यक्तियों के विरुद्ध है, जिन्हें अराधसम्<sup>42</sup> कहा गया है। दास और आर्य अपनी संपत्ति छिपाकर रखते थे, जिसके चलते उनका विरोध होता था।<sup>43</sup> कहा जाता है कि अग्नि ने अपनी प्रजा की भलाई के लिए समतल भूमि और पहाड़ियों में स्थित संपत्ति को अपने कब्जे में कर लिया और अपनी प्रजा के दास तथा आर्य शत्रुओं को हराया।<sup>44</sup> इन अंशों में यह बताया गया है कि जो आर्य दुश्मन समझे जाते थे उनकी संपत्ति (अनुमानतः मवेशी) छीन ली जाती थी और उन्हें आर्येतर लोगों की भाँति कंगाल बना दिया जाता था।

आर्यों के अन्य जातियों के साथ ओर उनके अंतर जनजातीय संघर्षों के कारण समाज विशृंखल होता गया और जैसे-जैसे पशुपालन की अपेक्षा कृषि जोर पकड़ती गयी, जिसमें सामाजिक वर्गों की स्थापना हुई। यद्यपि ऋग्वेद में

<sup>40</sup> अथर्ववेद, V. 11.3, पैप्पलाद, VIII. 1.3 'नमे दासोनार्यो महीत्वा व्रतं मीमाय पदहम धरिष्ये'।

<sup>41</sup> जर्नल आफ दि रायल एंशियाटक सोसायटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एंड आयरलैंड, लंदन।

<sup>42</sup> ऋग्वेद, 1.84.8

<sup>43</sup> ऋग्वेद, VIII. 51.9 'यस्यायं विश्व आर्योदासः शेवधिपा अरिः'।

<sup>44</sup> ऋग्वेद, X.69.6 'समज्रया पर्वत्या वसूनि दासा वृत्ताणार्या जिगेथः'।

‘वर्ण’ शब्द का प्रयोग ‘आर्य’<sup>45</sup> और दास<sup>46</sup> के लिए हुआ है। किंतु इससे किसी ऐसे श्रम-विभाजन का संकेत नहीं मिलता जो परवर्ती काल में समाज के व्यापक वर्गीकरण का आधार हुआ। आर्य वर्ण और दास वर्ण दो वृहद जनजातीय समूह थे जो सामाजिक वर्गों के रूप में विघटित हो रहे थे। आर्यों के संबंध में इसके पर्याप्त प्रमाण हैं। सेनार्ट की आलोचना करते हुए ओल्डेनबर्ग ने ठीक ही कहा है कि ऋग्वेद में जाति की चर्चा नहीं है;<sup>47</sup> किंतु इस संकलन से आरंभिक अवस्था में सामाजिक वर्गभेद के धीरे-धीरे पनपने का आभास मिलता है। उसमें ‘ब्राह्मण’ शब्द का उल्लेख पन्द्रह बार और ‘क्षत्रिय’ शब्द का प्रयोग नौ बार हुआ है। फिर भी ‘जन’ और ‘विश्व’ जैसे शब्दों के बार-बार दुहराए जाने और उनके रीतिरिवाजों से पता चलता है कि ऋग्वैदिक समाज जनजातीय था। आर्य भारत में पहली बार आए तो उनके पास दास थे या नहीं। इस पर अनेक विद्वानों का विचार प्रकट किए हैं जिसमें कीथ का विचार है कि वैदिक युग के भारतीय प्रधान तथा पशुचारी थे।<sup>48</sup> मानव विज्ञान संबंधी अनुसंधानों से पता चलता है कि कुछ पशुचारी जनजातियां दास रखती हैं, यद्यपि अपेक्षित अर्थ में दास प्रथा का अधिक विकसित रूप कृषक जनजातियों में दिखाई पड़ता है।<sup>49</sup>

उपर्युक्त बातों के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋग्वैदीय काल में दो परस्पर विरोधी दल थे, आर्य एवं दस्यु (दास), जो एक दूसरे से चर्म, रंग, पूजा-पाठ, बोली एवं स्वरूप से भिन्न थे। अतः प्राचीन काल में वर्ण शब्द केवल दास एवं आर्य से ही सम्बन्धित था। यद्यपि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय शब्द ऋग्वेद में

<sup>45</sup> वही, III. 34.9

<sup>46</sup> ऋग्वेद, 1.104.2, 111.34.9 ‘देवासे मन्युं दासस्य श्चमन्ते न आवक्षन्त्सुविताय वर्णम्’।

<sup>47</sup> साइटशूफ्ट डेर डोय्चेन मेर्गनलैण्डिशनगेजेलशाफ्ट बर्लिन, ii, 272.

<sup>48</sup> ई0जे0 रैप्सन: दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ0 99.

<sup>49</sup> लैटमैन : ‘दि ओरिजिन्स ऑफ सोशल इनइक्वेलिटीज ऑफ दि सोशल क्लासेज, पृ0 230.

बहुधा प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु वर्ण शब्द का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं था। यहाँ तक पुरुष सूक्त (ऋग्वेद 10/90) में भी जहाँ ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य एवं शूद्र का उल्लेख हुआ है वहाँ वर्ण का प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में पुरुषसूक्त को छोड़कर कहीं भी वैश्य एवं शूद्र शब्द नहीं आये हैं, यद्यपि अथर्ववेद में कई बार एवं तैत्तिरीय संहिता में बहुत बार आये हैं। बहुत विद्वानों का मत है कि पुरुष सूक्त ऋग्वेद में कालान्तर में जोड़ा गया है।

इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद के प्रारम्भिक काल में केवल दो जाति-समूह थे, इन दोनों वर्णों के लिए 'वर्ण' का भी प्रयोग होने लगा था। ऋग्वेद में कहा गया है कि उग्र प्रकृति के ऋषि (अगस्त्य) ने दोनों वर्णों का पोषण किया।<sup>50</sup>

आर्य और अनार्य को अलग-अलग समुदाय घोषित करने का कार्य सर्वप्रथम उनके रंग ने किया। अतः रंग (वर्ण) विभाजन अलग-अलग उनके वर्गों के आधार पर हुआ। और आगे चलकर उनकी शारीरिक और सांस्कृतिक विभिन्नताओं ने इस विभाजन को और भी दृढ़ कर दिया। ऋग्वैदिक समाज में भिन्न-भिन्न कर्मों का अनुसरण करने वाले चार वर्गों के अर्थ में उसका प्रयोग होने लगा। इस प्रकार आर्यों और अनार्यों का विभाजन रंग (वर्ण) के आधार पर हुआ था, वहाँ स्वयं आर्यों का चार वर्गों (वर्णों) का विभाजन कर्म के आधार पर हुआ। ऋग्वेद में चारों वर्गों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र के नाम मिलते हैं। आगे चलकर सामाजिक व्यवस्थाकार इन वर्गों को चतुर्वर्णों के नाम से व्यक्त करने लगे। किन्तु ऋग्वेद में कहीं पर भी इन वर्गों के लिए वर्ण शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।

<sup>50</sup> वही, 1.179.6 सभी ऋग्वेद 1.179.6 – उभौ वर्णवृचिरुग्राः पुपोष।

ऋग्वैदिक समाज में कर्म के आधार पर चार वर्गों का उदय (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) अवश्य हुआ है, परन्तु इन वर्गों को वर्णों का नाम देना सामाजिक व्यवस्थाकारों का कार्य है। कहा गया है कि ब्राह्मणवाद आर्यों से पूर्व की संस्था है।<sup>51</sup> लैटिन फ्लामेन रोमन राजाओं द्वारा स्थापित एक प्रकार के पुरोहित-पद का अभिधान है, जिसका समीकरण ब्राह्मण शब्द से किया गया है।<sup>52</sup> इस समानता के अतिरिक्त वेदकालीन भारत के अथर्वन पुरोहित और ईरान के अथर्वन की सुपरिचित समानता है। कीथ का कथन है कि ऋग्वैदिक मान्यता और वैदिक देवताओं की अपेक्षाकृत बहुलता पुरोहित के कठिन प्रयास और अपरिमित समन्वयवाद का परिणाम रही होगी।<sup>53</sup>

एक स्थल पर कहा गया है कि इंद्र ने दासों को आर्य में परिवर्तित किया।<sup>54</sup> ऋग्वेद से तो लगता है कि उनके धन को आर्यों ने अवश्य लूटा। यूद्ध में अपहरण की गई संपत्ति से जनजाति के नेताओं का ऐश्वर्य और सामाजिक दर्जा अवश्य बढ़ा होगा, और उन्होंने मवेशी और दासियों का दान कर पुरोहितों का संरक्षण किया होगा। ऋग्वेद की दानस्तुति से यह स्पष्ट है। इस प्रकार ऋग्वेद में रथ पर जाते हुए एक यजमान को 'धनवान, दाता और 'सभाओं में संस्तुत' के रूप में चित्रित किया गया है।<sup>55</sup>

ऋग्वेद से उल्लेख मिलता है कि इंद्र ने दस्युओं को आर्य की उपाधि से वंचित कर दिया।<sup>56</sup> सायण की टीका के अनुसार उन्हें आर्यों के जीवन के

<sup>51</sup> पार्जितर: 'एनशिफंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन, पृ0 306-08.

<sup>52</sup> ड्युमेजिल : "फ्लामेन ब्राह्मण", अध्याय 2 और 3

<sup>53</sup> ई.जे. रैप्सन: पूर्व निर्दिष्ट, 1.103

<sup>54</sup> ऋग्वेद, VI. 22.1

<sup>55</sup> ऋग्वेद, II. 27.12

<sup>56</sup> ऋग्वेद, X. 49.3 'अहं शूष्णस्य श्नथिता वधर्यमं न यो रर आर्य नाम दस्यवे!

तौर—तरीके सिखाए जाते थे। इससे स्पष्ट होता है कि ऋग्वैदिक सामाजिक व्यवस्था में केवल आर्य वर्ण और दास वर्ण को ही जाना जाता है।

वेदों और महाकाव्यों की परंपरा से पर्याप्त प्रभाव प्रस्तुत किए गए हैं जिनसे पता चलता है कि इंद्र ब्राह्मणघाती थे और उनका मुख्य दुश्मन 'वृत्' ब्राह्मण था।<sup>57</sup> इससे यह परिकल्पना पुष्ट होती है कि विकसित पुरोहित प्रथा आर्यों के पहले की प्रथा थी, जिससे निष्कर्ष निकल सकता है कि जो लोग पराजित हुए वे सभी दास या शूद्र नहीं बना लिए गए। अतएव, यद्यपि ब्राह्मणवाद भारोपीय संस्था था, फिर भी आर्य विजेताओं के पुरोहित वर्ग में अधिकांश विजित जाति के लोग लिए गए होंगे।<sup>58</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यपूर्व पुरोहितों को इस नए समाज में स्थान मिला था। ऋग्वेद में 'अश्विनी' के संबंध में जो वर्णन किया गया है उसके अनुसार उन्होंने काले वर्ण के (श्यावाय) कण्व को गौरवपूर्ण की स्त्रियाँ प्रदान की थी।<sup>59</sup> संभवतः कण्व को कृष्ण भी कहा गया है।<sup>60</sup> और वे इन युग्म देवों को संबोधित सूक्तों (ऋग्वेद के मंडल आठ, सूक्त पचासी और छियासी) के द्रष्टा हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद की एक ऋचा में गायक के रूप में वर्णित 'दीर्घतमस्' काले रंग का रहा होगा।<sup>61</sup> ऋग्वेद के कई अनुच्छेदों में वह केवल मातृमूलक नाम 'मामतेय' से ही चर्चित है। बाद की एक अनुश्रुति यह भी है कि उसने उशिज से विवाह किया जो एक

<sup>57</sup> डब्ल्यू. रयूबेन: 'इन्द्राज फाइट अगेन्स्ट वृत्त्र इन दि महाभारत', धर्मानंद कोसंबी, "भगवान बुद्ध", पृ० 24.

<sup>58</sup> कोसंबी : (जर्नल ऑफ दि बाम्बे ब्रांच ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई, न्यू सीरीज, XXII.35)

<sup>59</sup> ऋग्वेद, I. 117.8

<sup>60</sup> वही, VIII. 85.3-4 वही, VIII. 50.10 में भी कण्व का उल्लेख है।

<sup>61</sup> ऋग्वेद, I. 158.6 अंडेकर: टू वेयर दि शूद्राज? पृ० 77

दास की लड़की थी और उससे काक्षीवत् उत्पन्न हुआ।<sup>62</sup> अधिकांश निर्देश ऋग्वेद के परवर्ती भागों में पड़ते हैं इसलिए यह स्पष्ट होगा कि ऋग्वैदिक काल के अंतिम चरण में नवगठित आर्य समुदाय में कुछ काले ऋषियों और दास पुरोहितों का प्रवेश हो रहा था।

कालान्तर में वर्ण का अर्थ रंगमूलक न हो कर कर्म प्रधान तथा जन्म प्रधान हो गया। प्रथम अर्थ में आर्य और अनार्य (दास) दो वर्ण थे ये रंग, शरीर रचना इत्यादि भिन्नता इनमें पायी गयी। अतः सैद्धान्तिक दृष्टि से देखा जाए तो इनमें वर्ण-उत्कर्ष और वर्ण अपकर्ष न होकर अर्थात् आर्यवर्ण का व्यक्ति दास-वर्ण न हो सका और इसी प्रकार दास वर्ण का व्यक्ति कभी भी आर्य-वर्ण का न हो सकता था। दोनों में (आर्य और अनार्य) में मौलिक भेद था। अनार्यों की भाषा आर्यों की भाषा से भिन्न थी इसलिए वे अनार्यों की स्पष्ट भाषा-भाषी कहते हैं, अनार्य वैदिक कर्मकांड तथा आचार-विचार में विश्वास नहीं रखते थे।

दूसरे अर्थों में वर्ण शब्द का प्रयोग कर्म के आधार विभाजन हुआ। जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की कल्पना की गयी। ब्राह्मण का कार्य अध्ययन-अध्यापन और यजन, याजन करना था। क्षत्रिय युद्ध एवं राजकीय कार्यों में संलग्न थे। शेष जन जो कृषि वाणिज्य अथवा धनार्जन के कार्य में अर्थात् व्यवसायों में लगे थे वे वैश्य कहलाये। ये तीन आर्यों के वर्ग थे। चौथे शूद्र वर्ग में विभाजित अनार्य थे। ऋग्वेद में यह देखने को मिलता है कि वर्ण विकास की इस दूसरी स्थिति में आर्यों के प्रथम तीन वर्गों के कर्म परिवर्तनशील थे और उनके आधार पर वर्ग भी सृजित थे। उदाहरण के तौर पर कोई ब्राह्मण अपने अध्ययन और यजन का कार्य छोड़कर कृषि-कर्म करने लगे तो वे वैश्य

<sup>62</sup> 'वैदिक इंडेक्स' I, 366. शतपथ ब्राह्मण।

हो जायेंगे। इस प्रकार कोई क्षत्रिय ब्राह्मण भी हो सकता है। ऋग्वेद में इस तरह की व्यवस्था सामाजिक स्थिति मौजूद थी। वर्ण-व्यवस्था की तीसरी तथा अन्तिम अवस्था में वर्ण जन्मजात हो गया। परिणामस्वरूप जो व्यक्ति ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न हुआ है वह ब्राह्मण ही रहेगा चाहे वह किसी भी वर्ण का कार्य करे।

यही बात क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों के लिए भी लागू होती है। अब वर्ण निर्धारण में कर्म का कोई महत्व दृष्टिगत नहीं होता है। अतः वर्ण व्यवस्था में वर्ण पूर्णतः जन्मजात, अपरिवर्तन शील और स्थायी बन जाए।

चतुर्वर्ण की उत्पत्ति के बारे में प्राचीनतम अनुमान ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वर्णित सृष्टि संबंधी पुराकथा में पाया जाता है। इसमें कहा गया है कि ब्राह्मण की उत्पत्ति आदिमानव (ब्रह्मा) के मुँह से, क्षत्रिय की उनकी भुजाओं से, वैश्य की उनकी जाँघों से और शूद्र की उनके पैरों से हुई थी।<sup>63</sup> लेकिन यह समझा जाता है कि इस संहिता के दशम मंडल में यह विषय बाद में अंतर्वेशित किया गया है। लेकिन उत्तर-वैदिक साहित्य<sup>64</sup> में और गाथाकाव्य,<sup>65</sup> पुराण<sup>66</sup> तथा धर्मशास्त्र<sup>67</sup> की अनुश्रुतियों में भी इसे कुछ हेर-फेर के साथ प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार से चारों वर्णों के क्रम में उनकी दैवी उत्पत्ति तथा उनकी उच्चता तथा निम्नता प्रकट होती हैं। परन्तु प्रायः समस्त विद्वानों का मत है कि पुरुषसूक्त ऋग्वेद में कालान्तर में जोड़ा गया है। यह ऋग्वैदिक कालीन सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश नहीं डालता है। प्रायः ऋग्वेद में पुरुषसूक्त को छोड़कर कहीं भी वैश्य एवं शूद्र शब्द नहीं आये हैं, यद्यपि अथर्ववेद में कई बार

<sup>63</sup> ऋग्वेद, X. 90-12.

<sup>64</sup> पंचविश ब्राह्मण, V. 1.6-10

<sup>65</sup> महाभारत, XII. 73.4-8

<sup>66</sup> वायु पुराण, I. VIII. 155.9, मार्क. पु0, अध्याय 49

<sup>67</sup> वसिष्ठ-धर्मसूत्र, IV.2, बौधायन धर्मसूत्र, I.10.19.5-6

एवं तैत्तिरीय संहिता में बहुत बार आये हैं। ऋग्वेद में ब्राह्मण शब्द कई बार आया है, किन्तु यह किसी जाति के अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण में आया है कि सोम ब्राह्मणों का भोजन है। किन्तु क्षत्रिय को न्यग्रोध वृक्ष के तन्तुओं उदुम्बर एवं प्लक्ष के फलों को कूटकर उनके रस को पीना पड़ता था। इससे स्पष्ट होता है कि तब ब्राह्मण एवं क्षत्रिय दो स्पष्ट दल हो गये थे, किन्तु ये दल आनुवंशिक थे कि नहीं और उनमें भोजन तथा विवाह सम्बन्धी पृथक्त्व उत्पन्न हो गया था या नहीं, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन ही है।

### ब्राह्मण —

ऋग्वेद में 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है 'प्रार्थना' या 'स्तुति'।<sup>68</sup> ऋग्वेद में ब्रह्म एवं क्षत्र, 'स्तुति' एवं 'शक्ति' के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। ऋग्वेद में 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है।<sup>69</sup> जो कि एक वर्ग की ओर इंगित करता है। कई स्थानों पर 'ब्रह्मपुत्र' शब्द का उल्लेख का व्यवहार मिलता है जिससे आनुवंशिकता का पता लगता है। इससे ऋत्विज का भी अर्थ स्पष्ट होता है।<sup>70</sup> 'ब्रह्म' का साधारण अर्थ प्रार्थना अथवा मन्त्र है जो कि आध्यात्मिक शक्ति का प्रतीक है।<sup>71</sup>

ऋग्वेद में ब्राह्मण का उल्लेख अनेक मंत्रों में हुआ है जिनसे ज्ञात होते हैं कि वे सोमपान करते थे, प्रार्थना करते थे, समाज में उनका विशिष्ट स्थान था।<sup>72</sup> ऋग्वेद में ब्रह्म, क्षत्र, और विश् अलग-अलग समुदायों के रूप में उल्लिखित हैं,

<sup>68</sup> त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय (हे अग्नि, अपनी ज्वाला से हमारी स्तुति एवं यज्ञ को बढ़ाओ) ऋग्वेद 10/141/5

<sup>69</sup> वही, 1.164.45, 6.75.10 आदि।

<sup>70</sup> काणे हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, 2 पृ0 27।

<sup>71</sup> ऋग्वेद, 4.6.11, 6.52.2

<sup>72</sup> काणे, पी0वी0, वही पृ0 28



तथापि ऋग्वेद में ऐसा कुछ नहीं मिलता जिससे वह कहा जा सके कि ये वर्ण उत्तरकालीन जातियों की तरह अस्तित्व में आ चुके थे। ऋग्वेद (7.33.11) में वसिष्ठ को ब्राह्मण कहा गया है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे ब्राह्मण माता-पिता से पैदा हुए थे। उनका जन्म मित्र और वरुण द्वारा उर्वशी से हुआ था। इसी प्रकार ऋग्वेद में प्रयुक्त 'ब्रह्मदेवानाम्' और 'विप्राणां' जैसे शब्दों से ब्राह्मण जाति का अर्थ नहीं लिया जा सकता।<sup>73</sup>

ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि विश्वामित्र का यह 'ब्रह्म' भरत जन-समुदाय की रक्षा करता है। अग्नि देवता से प्रार्थना की गई है कि "तुम अपनी ज्वाला से हमारे 'ब्रह्म' और यज्ञ का वर्णन करो। ऐसे कई स्थल हैं जहाँ 'ब्रह्म' 'प्रार्थना' मन्त्र अथवा 'आध्यात्म-शक्ति' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि यज्ञ, मंत्र, प्रार्थना इत्यादि कार्यों में संलग्न वर्ग 'ब्राह्मण' के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। ब्राह्मण को सोमपान करने वाला तथा वार्षिक यज्ञ में मंत्रपाठ करने वाला माना गया है।<sup>74</sup> वह विद्वान्, मनीषी, वाक्परिमिता आदि भी स्वीकार किया गया है।<sup>75</sup>

ऋग्वेद के ब्राह्मण को यह माना जात है कि वेदों की जितनी शाखाएँ थी, उतने ही उनके ब्राह्मण, आरण्यक और सूत्र-ग्रन्थ आदि भी थे। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं— जिसमें पहला ऐतरेय ब्राह्मण दूसरा कौषीतकी ब्राह्मण। ऐतरेय ब्राह्मण के कर्ता या प्रवक्ता महिदास थे, जिनकी माता का नाम इतरा था। संभवतः वह एक दासी थी, जो किसी राजर्षि के घर में रहा करती थी। इतरा का पुत्र होने के कारण महिदास 'ऐतरेय' कहलाया, और उस द्वारा विरचित ब्राह्मण भी ऐतरेय

<sup>73</sup> वही पृ० 28.29

<sup>74</sup> वही, 7.103.8, ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमकत् ब्रह्म कृष्वन्तः परिवत्सराणम्।

<sup>75</sup> वही, 1.164.45, चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानी विदुः ब्राह्मण मनीषिणः।

नाम से प्रसिद्ध हुआ। ऐतरेय ब्राह्मण में याज्ञिक कर्मकाण्ड का बड़े विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से इस ब्राह्मण का विशेष महत्व है। इसके अन्तिम तीन अध्यायों के अनुशीलन से तत्कालीन भारत की भौगोलिक दशा, विविध राज्यों की सत्ता तथा उनकी शासन पद्धति और अनेक राजवंशों तथा राजाओं का जिस ढंग से प्रमाणिक परिचय मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इस ब्राह्मण की सप्तम् पञ्चिका (31-35 अध्याय) में राजा हरिश्चन्द्र का जो आख्यान दिया गया है, वह पुराणों की कथा से भिन्न है। ऐतरेय ब्राह्मण के इस आख्यान का आधार ऋग्वेद के प्रथम खण्ड के वे सूक्त (1/24-27) है, जिनका ऋषि शुकः शेष है। यहाँ इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है, कि वैदिक युग के धार्मिक जीवन, भौगोलिक दशा तथा इतिहास को जानने के लिए ब्राह्मण का बहुत उपयोग है। ऋग्वेद का दूसरा ब्राह्मण कौषीत किया सांख्यायन है। ऐतरेय ब्राह्मण के समान इस ब्राह्मण में भी प्रधानतया याज्ञिक कर्मकाण्ड का निरूपण किया गया है, और अपने समय की धार्मिक दशा के परिज्ञान के लिए यह अत्यन्त उपयोगी है।

ऋग्वेद में ब्रह्म एवं क्षत्र, 'स्तुति' एवं 'शक्ति' के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। कहीं-कहीं ये शब्द क्रम से ब्राह्मणों एवं क्षत्रिय के लिए प्रयुक्त हो गये हैं, यथा 'ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षात्रं राजन्यः' (तै0 ब्राह्मण, 3/9/14)। राजन्य शब्द केवल पुरुषसूक्त में ही आया है। अथर्ववेद में यह क्षत्रिय के अर्थ में प्रयुक्त है (5/17/9)। क्षत्रिय वैदिक काल में जन्म से ही क्षत्रिय थे कि नहीं, इसका स्पष्ट उत्तर देना सम्भव नहीं है। ऋग्वेद की एक गाथा इस बात पर प्रकाश डालती है कि सम्भवतः ऋग्वैदीय काल में क्षत्रियों एवं ब्राह्मणों में कर्म-सम्बन्धी कोई अन्तर नहीं था। देवापि एवं शन्तनु दोनों ऋषिषेण के पुत्र थे। शन्तनु छोटा

भाई था, किन्तु राजा वही हुआ, क्योंकि देवापि ने राजा होने में अनिच्छा प्रकट की। शन्तनु के पापाचरण के फलस्वरूप अकाल पड़ा और देवापि ने यज्ञ करके वर्षा करायी। देवापि शन्तनु का पुरोहित था। इस कथा से स्पष्ट होता है कि एक ही व्यक्ति के दो पुत्रों में एक क्षत्रधर्म का, दूसरा ब्रह्मधर्म का पालन कर सकता था, अर्थात् दो भाइयों में एक राजा हो सकता था और दूसरा पुरोहित।<sup>76</sup>

ऋग्वेद (9/11/2/3) में एक कवि कहता है— “मैं स्तुतिकर्ता हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं, और मेरी माँ चक्कियों में आटा पीसती है। हम लोग विविध क्रियाओं द्वारा धनोपार्जन करना चाहते हैं।”<sup>77</sup> एक स्थान पर ऋग्वेद (3/44/5) कवि कहता है— ‘हे सोमपान करने वाले इन्द्र, क्या तुम मुझे लोगों का रक्षक बनाओगे या राजा? क्या तुम मुझे सोम पीकर मस्त रहने वाला ऋषि बनाओगे या अनन्त धन दोगे? स्पष्ट है, एक ही व्यक्ति ऋषि, भद्रपुरुष या राजा हो सकता था।

ब्राह्मणों के प्रमुख विशेषाधिकार थे शिक्षण, कार्यकला, पौरोहित्य तथा धार्मिक कर्तव्य के रूप में दान ग्रहण करना। ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मण सबका गुरु माना जाता था, और यह श्रद्धा-पद उसे जन्म से ही प्राप्त था। वसिष्ठ धर्मसूत्र ने भी ब्राह्मण को सर्वोच्च माना है, और ऋग्वेद (90/12) को अपने पक्ष में उद्धृत किया है।<sup>78</sup> अपने धार्मिक कार्यों के कारण ब्राह्मण वर्ग अत्यन्त सम्माननीय समझा जाता था। ऋग्वेद में एक स्थान पर ब्राह्मणों का

<sup>76</sup> यास्क का निरुवत (2/10) इसके अनुसार शन्तनु एवं देवापि कौरण्य भाई थे।

<sup>77</sup> ‘कारूरहं ततो भिषगुपप्रक्षिणी नना। नानाधियो वसूयवोऽनुगा इव तस्थिम्।’ यहाँ ‘कारू’ का अर्थ है—स्तुति-प्रणेता; नदियों ने ऋग्वेद (3/33/10) में विश्वामित्र को कारू कहा है।

<sup>78</sup> प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं संस्कारविशेषाच्च। ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृत इत्यपि निगमो भवति। वसिष्ठ 4/1-2

उल्लेख पितरों के साथ किया गया है।<sup>79</sup> इससे ब्राह्मण वर्ग का आदरणीय तथा अति उच्चपद प्रकट होता है। परन्तु ऋग्वेद में कोई भी उल्लेख ऐसा नहीं है जिनके आधार पर ब्राह्मणों को जन्मजात कहा जा सके। यही नहीं, ऋग्वेद के उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि वे कर्म के आधार पर ही संगठित थे।

ऋग्वैदिक समाज में ब्राह्मण व्यक्ति कोई व्यवसाय अपना सकता था। वह अपनी इच्छानुसार कर्म का अनुसरण कर सकता था। इसी प्रकार ब्राह्मण ऋषि भृगु रथ निर्माण में निपुण थे।<sup>80</sup> किन्तु समाज में उनकी प्रतिष्ठा याज्ञिक कर्म, तपश्चर्या और विद्वता से ही थी।

इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च था। विराट पुरुष के मुख से उत्पन्न होने के कारण उसकी विशिष्टता थी। इस पृथ्वी पर सर्वप्रथम ब्राह्मण की उत्पत्ति हुई तत्पश्चात् अन्य वर्णों की। ब्राह्मण वर्ग की समाज और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में श्रेष्ठता स्थापित थी। जिसे शैक्षणिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक ओर आर्थिक क्रियाकलापों में विशेषाधिकार प्राप्त था। इसे पूरे धर्म का पालन करना और समस्त धार्मिक क्रियाएं कराने का अधिकार प्राप्त था। पार्जिटर- “एनशिप्ट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन पृ0 306.8 में उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मणवाद आर्यों से पूर्व की संस्था है।

सारे पुरोहित वर्ग के विषय में यह कहना कठिन है। लैटिन फ्लामेन रोमन राजाओं द्वारा स्थापित एक प्रकार के पुरोहित-पद का अधिधान है, जिसका समीकरण ब्राह्मण शब्द से किया गया है।<sup>81</sup>

<sup>79</sup> ऋग्वेद 6.75.10 ' ब्राह्मणसः पितरः सोम्यासः शिवेनोद्यावपृथिवी अनेहसा ।

<sup>80</sup> वही, 10.39.14 एतं वा स्तोममश्विनावकर्मा तक्षाम भृगवो न रथम् । न्यमृक्षाम योषणा न मर्ये नित्यं सूनुं तनयं दधानाः ।

<sup>81</sup> ड्युमेजिलः फ्लामेन ब्राह्मण', अध्याय II और III.

ब्राह्मण सभी वेदों का ज्ञाता और सभी विधाओं का मर्मज्ञ होता था। विद्वता के कारण समाज में ब्राह्मण वर्ग का स्थान सर्वोच्च था। ब्राह्मण वर्ग के प्रधानतः छः कर्म थे— 'वेद पढ़ना', 'वेद पढ़ाना', यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना,<sup>82</sup> ये कर्म उसके स्वधर्म के अन्तर्गत थे जो वैदिक युग से उनसे सम्बन्धित थे। प्राचीनकाल से ही ब्राह्मण विशेषाधिकार प्राप्त थे जो अन्य वर्गों को नहीं प्राप्त थे। इन्हें राजनैतिक, धार्मिक, बौद्धिक, आर्थिक, समाजिक आदि सभी क्षेत्रों में अनेक सुविधाएँ मिली थी। जिससे ये स्वभावतः सभी वर्गों में सर्वोपरि हो गए।

### क्षत्रिय —

क्षत्रिय शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर मिलता है, क्षत्र का सामान्य अर्थ 'शौर्य' अथवा 'वीरता'<sup>83</sup> 'क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग देवताओं की उपाधि के रूप में हुआ है और राजा के रूप में भी।<sup>84</sup> उस युग में 'क्षत्र' का अर्थ प्रायः 'शूरता' और 'वीरता' से लिया जाता था। आर्यों के तत्कालीन समाज में क्षत्रिय समूह के रूप में ऐसे शूर-वीरों का एक वर्ग बन गया था, जो यहाँ के मूल निवासियों से युद्ध करके उनके भू-क्षेत्रों पर आधिपत्य स्थापित करता था। ऐसे ही शौर्यवान लोग देवताओं और राजाओं की श्रेणी में सम्मिलित किए गए थे।<sup>85</sup> 'राजन्य' शब्द भी 'क्षत्रिय' वर्ग के लिए प्रयुक्त किया जाता था। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में 'राजन्य' शब्द का व्यवहार किया गया है।<sup>86</sup> यद्यपि यह शब्द शेष ऋग्वेद में नहीं मिलता है।

<sup>82</sup> अर्थशास्त्र 1.3, स्वधर्मो ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति।

<sup>83</sup> ऋग्वेद 7.6.2.2, 8.25.8

<sup>84</sup> वही, 4.42.1

<sup>85</sup> वही, 7.42.2

<sup>86</sup> वही, 10.90.2

तैत्तिरीय ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रं राजन्यः।'<sup>87</sup> ऋग्वेद में ब्रह्म और क्षत्र शब्द जैसे कि 'काणे' ने लिखा है क्रमशः प्रार्थना और शौर्य के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। सायण ने तैत्तिरीय ब्राह्मण (3.8.51) के भाष्य में 'क्षत्र' का अर्थ शौर्य क्रिया है परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण (86.16) के भाष्य में इसका अर्थ राज्य किया है। शौर्य के अर्थ में प्रयुक्त 'क्षत्र' शब्द से रक्षा कार्य में रत लोगों के लिए अथवा राज करने वालों के लिए प्रयुक्त क्षत्र शब्द से क्षत्रिय शब्द की सिद्धि स्वतः सिद्ध है। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण एवं यजुर्वेद काठक संहिता में राजन्य के अर्थ में राजन्य के पर्यायवाची राजपुत्र शब्द का प्रयोग हुआ है। राजन्य का अर्थ राज्य से संबंधित और क्षत्रिय का अर्थ क्षत्र अर्थात् राज्य से संबंधित होता है। परन्तु धीरे-धीरे दोनों शब्दों के अर्थ में भेद होने लगा।

कौषीतकी में वर्णन है कि सोम अपने दो मुखों— ब्राह्मण और राजन्य से क्षत्रियों और वैश्यों को खाता है। अर्थात् राजन्य राजा से सम्बन्धित वह वर्ग है जो क्षत्र (राज्य) से सम्बन्धित अथवा क्षत्र की सेवा करने वाले लोगों से कर लेता है जो राजन्य नहीं है।

ऋग्वेद में कई स्थानों पर यथा (10/42/10) एवं (10/97/6) में 'राजन्' का अर्थ है 'बड़ा' या महान् या 'प्रमुख'। कहीं-कहीं पर 'राजन्' का अर्थ है 'राजा' ऋग्वेद के काल में राज्य वर्ग सम्बन्धी था, यथा यदुलोग, तुर्वशु, दुह्य, अनु, पुरु, भृगु तत्सु लोग। क्षत्रिय ही राजा होता था। जब राजा को मुकुट पहना दिया जाता था (राज्याभिषेक होता था) तो यही समझा जाता था कि एक

---

<sup>87</sup> तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3.9.14

क्षत्रिय सबका अधिपति, ब्राह्मणों एवं धर्म की रक्षा करने वाला उत्पन्न किया गया है।<sup>88</sup>

इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि क्षत्रिय के लिए प्रयुक्त होने वाला राजन्य शब्द ऋग्वेद में केवल पुरुष सूक्त में मिलता है।

क्षत्रियों की रक्षा कार्य एवं शासन कार्य से सम्बन्ध ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों से संकेतित होता है।<sup>89</sup> देवापि और शान्तनु की कथा भी यह प्रमाणित करती है कि पूर्व वैदिक काल में क्षत्रिय वर्ग के रूप में थे और क्षत्रिय होने के आधार कर्म या जन्म नहीं।

### वैश्य —

‘वैश्य’ शब्द ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में ही आया है, किन्तु ‘विश्’ शब्द कई बार प्रयुक्त हुआ है। ‘विश्’ का अर्थ है ‘जन दल’ कई स्थानों पर ‘मानुषीविशः’या ‘मानुषीणां विशाम्’ प्रयोग आये हैं। ऋग्वेद (3/34/2) में आया है— ‘इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा,’ ‘अर्थात्’ इन्द्र तुम मानवीय झुण्डों एवं दैवी झुण्डों के नेता हो।”

ऋग्वेद (8/63/7) के मन्त्र ‘यत्याxचजन्यया विशेन्द्र घोषा असृक्षत में ‘विश्’ सम्पूर्ण आर्य जाति का द्योतक है। ऋग्वेद के (5/32/11) में इन्द्र की उपाधि है ‘पाxचजन्य (पाँच जनों के प्रति अनुकूल) तथा ऋग्वेद के 9/66/20 में अग्नि की उपाधि है ‘पाxचजन्यः पुरोहितः। कहीं—कहीं जन एवं ‘विश’ शब्दों

<sup>88</sup> क्षत्रियोऽजनि विश्वस्य भूतस्याधिपतिरजनि विशामत्ताजनि.....ब्रह्मणो गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनि।— ऐतरेय ब्राह्मण 38 एवं 39/3

<sup>89</sup> ऋग्वेद, 4.42.1; 10.109.3

में विरोध भी है, यथा— स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैवजिं भरतेधनानृभिः' (ऋग्वेद 2/26/3) किन्तु 'विश्' को पा०चजन्य भी कहा गया है, इससे स्पष्ट है कि 'जन' एवं 'विश' में कोई भेद नहीं है। 'पा०चजनाः' का उल्लेख ऋग्वेद में कई बार हुआ है। (ऋग्वेद 3/37/9, 3/59/7)। इसी प्रकार 'कृष्टि', 'क्षिति', 'चर्षाणि' नामक शब्द 'पा०च' शब्द के साथ प्रयुक्त हुए हैं, उदाहरणार्थ—

'पा०चजन्यासु कृष्टिषु' (ऋग्वेद 3/53/16)

अतः 'विश्' शब्द ऋग्वेद के सभी स्तुतियों में 'वैश्य' का बोधक नहीं, प्रत्युत 'जन' या 'आर्य जन' का द्योतक है। ऐतरेय ब्राह्मण (1/26) के अनुसार 'विशः' का अर्थ है 'राष्ट्रिणी' (देश)।

ऋग्वेद में 'ब्रह्म', 'क्षत्र' और विश् का साथ-साथ उल्लेख मिलता है।<sup>90</sup> इससे स्पष्ट होता है कि समाज में इन तीनों वर्गों की स्थापना हो चुकी थी। इसी में वैश्यों का उल्लेख गायों के साथ किया गया है। अतः स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक काल में भी पशु-पालन वैश्य-समुदाय का प्रमुख कार्य समझा गया था। यद्यपि ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' में वैश्य शब्द के साथ वर्ण का उल्लेख नहीं मिलता है, तथापि जैसा पहले कहा जा चुका है, पुरोहित वर्ग और क्षत्रिय वर्ग को छोड़कर आर्य समाज के शेष वर्ग के लिए विश् शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में ब्राह्मण क्षत्रिय और विश् इन्हीं तीन वर्गों के उल्लेख मिलते हैं किन्तु उनके साथ भी वर्ण शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है, और पूर्व वैदिक काल में इन तीन वर्णों

<sup>90</sup> ऋग्वेद, 8.35, 16-18



में परस्पर ऊँच नीच की भावना का संकेत नहीं मिलता है परन्तु यह प्रमाणित है कि ब्राह्मण को प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

सामान्यतया यह माना जाता है कि परवर्ती, जाति-प्रथा वर्ण व्यवस्था का परिणाम थी। किन्तु यह मत अधिक तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि पूर्व वैदिक काल में ही जहाँ हम तीन वर्गों का उल्लेख प्राप्त करते हैं, वहीं कुछ व्यवसायों को करने वालों के लिए अलग शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उन व्यवसायों के करने वाले पूर्व वैदिक काल में जातियों का रूप धारण कर चुके थे यद्यपि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आगे चलकर उन व्यवसायों के करने वाले जातियों के रूप में संगठित हो गये। ऋग्वेद में 'वप्ता',<sup>91</sup> 'तृष्टा'<sup>92</sup> (बढ़ई), भिषक<sup>93</sup> (वैद्य), कर्मार<sup>94</sup> (लुहार) के उल्लेख यह प्रमाणित करते हैं कि वर्ण-व्यवस्था के समानान्तर ही व्यवसाय के आधार पर भी वर्ग बनने लग गये होंगे, परन्तु प्रारम्भ में ये सब छोटे-मोटे कार्य सब लोग स्वयं करते थे।

## शूद्र -

समाज के वर्ग के रूप में शूद्रों का प्रथम और एकमात्र उल्लेख ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में आया है जिनकी पुनरावृत्ति अथर्ववेद के उन्नीसवें भाग में हुई है।<sup>95</sup> ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में शूद्र शब्द का प्रयोग मिलता है, यहाँ कहा गया है कि 'शूद्र' विराट् पुरुष के पैरों से उत्पन्न हुआ है और शूद्र का स्थान चौथा था। ऋग्वेद में केवल एक ही बार उल्लेख हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत से

---

<sup>91</sup> ऋग्वेद, 10.142.4

<sup>92</sup> वही, 1.64.4

<sup>93</sup> वही 9.112.1

<sup>94</sup> वही 10.72.2

<sup>95</sup> अथर्ववेद, XIX. 66

विजित अनार्य, आर्यों के दास होंगे। अतः आर्यों ने उन्हें अपने समुदाय में ग्रहण कर लिया था और शूद्र की संज्ञा दी।

ऐसा उल्लेख मिलता है कि वर्ण व्यवस्था का विकास पुराहितों के प्रभाव में हुआ। हमारे काम का केवल एक प्रसंग ऐसा है जिसे व्हिटने के अनुसार अथर्ववेद के आरंभिक काल का कहा जा सकता है। इसमें ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य का उल्लेख तो हुआ है,<sup>96</sup> किंतु शूद्र को छोड़ दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि अथर्ववेद काल के अंत में ही शूद्रों को समाज के एक वर्ग के रूप में चित्रित किया गया है। इसी अवधि में उनकी उत्पत्ति के संबंध में पुरुषसूक्त में उल्लिखित उक्ति का समावेश ऋग्वेद के दशम मंडल में किया गया होगा। ऐतरेय ब्राह्मण के अंबष्ठों का समरूप माना गया है।<sup>97</sup> इस ब्राह्मण में एक अंबष्ठ राजा की चर्चा है।<sup>98</sup> यही बात शूद्र जाति पर लागू होती है। अथर्ववेद के आरंभिक भाग में शूद्रों के तीन उल्लेख की विवेचना की जा सकती है। व्हिटने का कथन है कि अथर्ववेद के प्रथमखंड (भाग 1-7) में आते हैं जो परम लोकमूलक है और सभी प्रकार से उस संहिता का अत्यंत अभिलाक्षणिक अंश है।<sup>99</sup> ऋग्वेद में इसी तरह की अन्य ऋचाएँ भी आई हैं। जिसमें पुरोहित चाहता है कि वह अपने दुश्मन आर्यों और दासों या दस्युओं को परास्त करे। वैदिक ग्रंथों में आए हुए सामाजिक संबंधों के प्रत्यक्ष निर्देशों का सही अर्थ लगाने में ब्राह्मण टीकाकार इसलिए सफल नहीं हो सके कि उनका ध्यान सदा बाद में होने वाली घटनाओं की ओर लगा रहता था। ऋग्वेद में आर्य और दास शब्दों

---

<sup>96</sup> अथर्ववेद, V. 17.9

<sup>97</sup> एच0सी0 राय चौधरी: पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एनशिपंट इंडिया, पृ0 225

<sup>98</sup> ऐतरेय ब्राह्मण, VII. 21.

<sup>99</sup> हार्वर्ड ओरिएंटल सिरीज, VII, पृ0 CXLVII और CLV.

का अर्थ जिस रूप में किया गया है, वह इस आशय का उदाहरण कहा जा सकता है। सायण आर्य को प्रथम तीन वर्णों का और दास को शूद्र वर्ण का मानते हैं।<sup>100</sup> स्पष्ट है कि सायण ने यह टीका बाद में समाज के चार वर्णों में विभक्त होने के आधार पर की, जिनका औचित्य वह सिद्ध करना चाहते हैं। इसी प्रकार यहाँ जिस अथर्ववैदिक प्रसंग का विवेचन किया जा रहा है सायण ने आर्य की व्याख्या तीन वर्णों के सदस्य के रूप में की है,<sup>101</sup> जिसमें सहज ही शूद्र चौथे वर्ण के प्रतिनिधि हो जाते हैं।

अथर्ववेद के आरंभिक भाग में शूद्र को जनजाति माना गया है। इस आशय का निष्कर्ष इसमें उपलब्ध तीसरे प्रसंग से भी निकाला जा सकता है, जिसमें 'तक्मन्' ज्वर से कहा गया है कि वह मुजवंतो, बल्हिकों और महावृषों के साथ-साथ कुलटा शूद्र महिलाओं को भी ग्रासित करे।<sup>102</sup>

ब्राह्मणकाल में शूद्र आर्य की भाषा समझने में समर्थ थे, जिसमें परोक्ष रूप से सिद्ध होता है कि वे आर्यों की भाषा जानते थे।

इतना ही नहीं, शूद्र को आर्य-पूर्व लोगों, यथा द्रविड़, पुलिंद, शबर आदि की सूची में कभी शामिल नहीं किया गया है। उन्हें बराबर उत्तर-पश्चिम का निवासी माना गया है।<sup>103</sup> आगे चलकर मुख्यतः आर्य ही निवास करते थे।<sup>104</sup>

<sup>100</sup> ऋग्वेद की टीका, II. 12.4

<sup>101</sup> अथर्ववेद की टीका, IV. 20.4

<sup>102</sup> अथर्ववेद, V.22.7 और 8

<sup>103</sup> महाभारत की सूची लगभग उसी रूप में पुराणों में भी आई है, जिसमें शूद्रों को आभीरो, कालतोयकों, अपरांतो, पहलवों और अन्य लोगों के साथ एक जाति के रूप में चित्रित किया गया है।

<sup>104</sup> म्यूर: पूर्व निर्दिष्ट, II. 355-357.

आभीर और शूद्र सरस्वती नदी के निकट रहते थे।<sup>105</sup> कहा जाता है कि इन लोगों के प्रति बैर-भाव के कारण सरस्वती मरुभूमि में विलीन हो गई।<sup>106</sup>

यदि शूद्र भारतीय आर्यों से सम्बद्ध थे, तो वे भारत में कब आए? कहा गया है कि वे भारत में आने वाले आर्यों के किसी आरंभ के दल के थे।<sup>107</sup> किंतु ऋग्वेद में 'शूद्र' का उल्लेख नहीं हुआ है, इसलिए संभव है कि शूद्र उन विदेशी जनजातियों में से थे जो ऋग्वैदिक काल का अंत होते-होते उत्तर-पश्चिम भारत में आईं। पुरातत्व संबंधी साक्ष्य के आधार पर ऐसा संभव मालूम होता है कि 2000 ई0पू0 के पश्चात हजार वर्षों तक लोगों का भारत में आना जारी रहा।<sup>108</sup> इस परिकल्पना का समर्थन भाषाजन्य प्रमाणों से भी होता है।<sup>109</sup> इस प्रकार यह अनुमान किया जाता है कि शूद्र ई0पू0 दूसरे सहस्राब्द के अंत में भारत आए, जबकि उन्हें वैदिक कालीन आर्यों ने पराजित किया और वे वैदिक काल के उत्तरवर्ती समाज ने उन्हें चतुर्थ वर्ण के रूप में अपनाया।

शूद्र वर्ण के उद्भव के विषय में आंतरिक और बाहरी संघर्षों के कारण आर्य या आर्य-पूर्व लोगों की स्थिति ऐसी हो गई है।<sup>110</sup> चूँकि संघर्ष मुख्यतया मवेशी के स्वामित्व को लेकर और बाद में भूमि को लेकर होता था। अतः जिनसे ये वस्तुएँ छीन ली जाती थीं और जो अशक्त हो जाते थे, वे नए समाज में चतुर्थ वर्ण कहलाने लगते थे। फिर जिन परिवारों के पास इतने अधिक मवेशी हो गए और इतनी अधिक जमीन हो गई कि वे स्वयं संभाल नहीं पाते थे, तो

<sup>105</sup> महाभारत II. 29.9 शूद्राभीरगणाश्चैव ये चाश्रित्य सरस्वतीम् ।

<sup>106</sup> महाभारत (कल), IX. 37.1 शूद्रभीरान् प्रति द्वेषाद् यत्र नष्टा सरस्वती; अनुवाद शर्मा रामशरण, शूद्रों का प्राचीन इतिहास।

<sup>107</sup> वेबर: (साइटिश्रुप्ट डेर डोय्चेन मेर्गेनलैंडिशेनगेजेलशाफ्ट, बर्लिन, IV-301 पाद टिप्पणी-2.)

<sup>108</sup> स्टुवर्ट पिगार: पूर्व निर्दिष्ट, IV. सं0 96.128

<sup>109</sup> टी. बरो: दि संस्कृत लैंग्वेज, पृ0 31.

<sup>110</sup> जी.जे. हेल्ड: 'एथनालाजी ऑफ महाभारत, पृ0 89-95.

उन्हें मजदूरों की आवश्यकता हुई और वैदिककाल के अंत में ये शूद्र कहलाने लगे।

यह मंतव्य है कि शूद्र वर्ण का निर्माण आर्य-पूर्व लोगों से हुआ था, उतना ही एकांगी और अतिरंजित मालूम पड़ता है, जितना यह समझना कि उस वर्ण में मुख्यतः आर्य ही थे।<sup>111</sup> वास्तविकता यह है कि आर्थिक तथा सामाजिक विषमताओं के कारण आर्य और आर्योत्तर, दोनों के अंदर श्रमिक समुदाय का उदय हुआ और ये श्रमिक आगे जाकर शूद्र की श्रेणी में आ गये। साधारणतया समाजशास्त्रीय सिद्धांत है कि वर्गविभाजन बराबर सजातीय असमानताओं से मूलतया संबद्ध होता है।<sup>112</sup> किंतु इस सिद्धांत से शूद्रों और दासों की उत्पत्ति पर आंशिक प्रकाश पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि वैदिक काल के आरंभिक लोगों में शूद्रों और दासों की जनसंख्या बहुत सीमित थी और उत्तरवर्ती वैदिक काल के अंत से लेकर आगे शूद्र जिन अशक्तों के शिकार रहे हैं, वे आदि वैदिक काल में विद्यमान नहीं थी।

### उत्तर वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था का विकास –

उत्तर वैदिक काल में 'वर्ण-व्यवस्था' अत्यधिक विकसित हो चुकी थी। अथर्ववेद में राजन्य, वैश्य, शूद्र और आर्य इन चार वर्णों का उल्लेख है।<sup>113</sup> इस प्रकार ऋग्वैदिक समाज में वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ, किन्तु उसका स्वरूप उत्तरवैदिक युग में अधिक व्यापक हुआ। वस्तुतः चातुर्वर्ण व्यवस्था का विकास

---

<sup>111</sup> वैदिक इंडेक्स, II : 265.

<sup>112</sup> लैंटमेन : पूव निर्दिष्ट, पृ0 38.

<sup>113</sup> अथर्ववेद 3.5.7

इसी युग में शुरू हुआ। अथर्ववेद में उल्लेख हुआ है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ब्रह्मा के चार अंगों से उत्पन्न हुए हैं।<sup>114</sup>

उत्तर वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई पड़ता है यथा अब वर्णों में ऊँच-नीच की भावना आ जाती है तथा वर्ण परिवर्तन असम्भव हो जाता है। इस काल में सर्वप्रथम चार वर्ण उल्लिखित मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट कहा गया है कि चार वर्ण- ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र।

‘चत्वारो वै वर्णाः ब्राह्मण राजन्यो वैश्यः शूद्रश्च’

तथापि यह ज्ञातव्य है कि इस काल में वर्ण में वरण भाव समाप्त हो जाता है और अब यह शब्द जात्यर्थक हो जाता है।

अब पूर्ववैदिक काल के समान गुण कर्मानुसार वर्ण परिवर्तन की सम्भावना समाप्त प्रायः हो जाती है, साथ ही अभी उस प्रकार की संकीर्णता भी अव्याप्त रहती है, जिसके प्रमाण वैदिकोत्तर साहित्य में प्राप्त होते हैं। अब विभिन्न वर्णों के मध्य विभाजन रेखाओं की पहचान सरल हो जाती है। किंतु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को क्रमशः एक दूसरे से श्रेष्ठ घोषित कर दिया जाता है। पंचविश ब्राह्मण का स्पष्ट कथन है कि विश, और क्षत्र, ब्रह्म के अनुगामी होते हैं—

‘ब्राह्मणे क्षत्रं च विशं चानुगे करोति’<sup>115</sup>

यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के अनेक मंत्रों में चारों वर्णों का उल्लेख है।<sup>116</sup> इससे सूचित होता है कि इन वेदों के समय में वर्ण-भेद भली-भांति विकसित हो चुका था। याज्ञिक कर्मकाण्ड का जो जटिल रूप इस काल में विकसित हो गया था,

<sup>114</sup> यजुर्वेद 31.10.1

<sup>115</sup> पंचविश ब्राह्मण

<sup>116</sup> ‘ब्राह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्। ‘यजुर्वेद 30/5

उसमें यह स्वाभाविक था कि ऋत्विक्, अध्वर्यु, ब्रह्म आदि के रूप में यज्ञ की विविध प्रक्रियाओं के ऐसे विशेषज्ञ होने लगे, जिनकी स्थिति सामान्य आर्य जनता से अधिक ऊँची हो। अरण्यों व आश्रमों में निवास करने वाले ब्रह्मवादियों और तत्त्वचिन्तकों को भी ब्राह्मणों के इसी वर्ग में गिना जाने लगा, और इस प्रकार याज्ञिकों तथा मुनियों के एक नये वर्ग का प्रादुर्भाव हो गया। विविध आर्य जनों (कबीलों) ने जब सप्तसिन्धु देश से आगे बढ़कर पूर्वी और दक्षिणी भारत में फैलना शुरू किया, तो वहाँ के मूल निवासियों से उन्हें 'युद्ध' करने पड़े। इस दशा में जो रथेष्ट और राजन्य युद्ध में विशेष योग्यता प्रदर्शित करते थे और जिनके पराक्रम के कारण ही आर्यों के लिए नये-नये प्रदेशों को अधिगत कर सकना सम्भव था, उन द्वारा भी एक नये वर्ग का विकास हुआ, जिसे क्षत्रिय कहा जाता था। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अतिरिक्त जो सर्व साधारण आर्य जनता थी, उसमें सब प्रकार के शिल्पी, वणिक, कृषक, पशुपालक आदि सम्मिलित थे, और उसे 'विशः' या वैश्य कहा जाता था। समाज में जो सबसे निम्न वर्ग था, और जो आर्य गृहस्थों की सेवा में दास, कर्मकार आदि के रूप में कार्य करता था, उसे शूद्र कहते थे।

### ब्राह्मण —

उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मण का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया था, और उने विभिन्न दायित्व भी बढ़ गये थे।<sup>117</sup> उत्तर वैदिक काल के समाज में ब्राह्मणों की सर्वश्रेष्ठ स्थिति का पता चलता है, ब्राह्मणों को दिव्य वर्ण का उल्लिखित

<sup>117</sup> यजुर्वेद 18.48 रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नमस्कृधि । रुचं विश्वेषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥

किया गया था। इन्हें देवता तुल्य माना गया, उसमें ऐसा कहा गया है कि समस्त देवता निवास करते हैं।<sup>118</sup>

उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मण अपने ज्ञान, धार्मिक कृत्यों और मन्त्रों के कारण अधिक उच्च स्थान पर थे, वह अपनी प्रार्थनाओं और यज्ञों द्वारा राजाओं के सुरक्षित रहने की कामना करते थे। ऐतरेय ब्राह्मण में यह उल्लेख मिलता है कि पुरोहित के बिना अर्पित की गई राजा की आहुतियां देवताओं को स्वीकार नहीं थी। इस युग में ब्राह्मण ही प्रायः पुरोहित होते थे। ऋग्वेद में उल्लेख है कि राजा, जो ब्राह्मण को सर्वप्रथम आदर देता है अपने घर में सुख से रहता है। 'ब्राह्मण ऐसे देवता है, जिन्हें हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं (तै०सं० 1/7/3/1)। देवताओं के दो प्रकार हैं, देवता तो देवता हैं ही और ब्राह्मण भी, जो पवित्र ज्ञान का अर्जन करते हैं और उसे पढ़ाते हैं, मानव देवता है (शतपथ ब्राह्मण)

अथर्ववेद (5/17/19) में ब्राह्मणों की महत्ता गायी गयी और सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (3/34) में आया है कि जब वरुण से कहा गया कि राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र के स्थान पर ब्राह्मण-पुत्र की बलि दी जायेगी, तो उन्होंने कहा— ब्राह्मण तो क्षत्रिय से उत्तम समझा ही जाता है। किन्तु शतपथ ब्राह्मण में आया है—

‘न वै ब्राह्मणो राज्ययालम्’

अर्थात् ब्राह्मण राज्य के योग्य नहीं है। तैत्तिरीयोपनिषद् में आया है कि अश्वमेध के समय ब्राह्मण एवं राजन्य दोनों वीणा बजायें (दो ब्राह्मण नहीं), क्योंकि धन को ब्राह्मण के यहाँ आनन्द नहीं मिलता। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार

---

<sup>118</sup> तैत्तिरीय सं० 1.7.31



ब्राह्मणों के चार विलक्षण गुण हैं— 1. ब्राह्मण (ब्राह्मण रूप में पवित्र माता-पिता वाला गुण, अर्थात् ब्राह्मण रूप में पवित्र पैतृकता), 2. प्रतिरूपचर्या (पवित्राचरण), 3. यश (महत्ता), 4. एवं लोकपंक्ति (लोगों को पढ़ाना या पूर्ण बनाना)। 'जब लोग ब्राह्मण से पढ़ते हैं या उसके द्वारा पूर्ण होते हैं तो उसे चार विशेषाधिकार देते हैं, अर्चा (आदर), दान अज्येयता (कोई कष्ट न देना) एवं अवध्यता।<sup>119</sup> शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से आया है कि ब्राह्मण, राजन्य वैश्य एवं चार वर्ण है।

वेदाध्यापन, यज्ञ कराना, दान लेना ब्राह्मणों के विशेषाधिकार है। आरम्भिक वैदिक कालों में भी ब्राह्मण एवं विद्या में अभेद सम्बन्ध था। ब्रह्मविद्या में ब्राह्मणों ने विशिष्ट गति प्राप्त की थी। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्गों के वर्णों में सहयोग की भावना की कामना की गयी है। दान स्वीकार करने और वंश की शुद्धता को बनाए रखने के लिए भी दिशा-निर्देश दिया गया है। ब्राह्मण की पवित्रता और शुद्धता इसी में है कि वह अपने आचरण और कर्म को अच्छी दिशा में प्रेरित करता रहे, तथा सबके द्वारा अस्वीकार की गई वस्तु को प्रायः ब्राह्मण को न ग्रहण करने के लिए कहा गया है।<sup>120</sup> ब्राह्मण बौद्धिक ज्ञान में सर्वश्रेष्ठ था। जो वेदों का ज्ञाता और आर्षिय था वही ब्राह्मण ऋषि था।<sup>121</sup> समाज में ब्राह्मण को ही शिक्षा देने और आध्यात्मिक ज्ञान करने का दायित्व था तथा वही देश का शैक्षणिक और बौद्धिक उत्कर्ष उसी के प्रयास से संभव था। पौरोहित्य एवं शिक्षण के कार्य पूर्णरूपेण से सम्पादित करने के लिए, वैदिक ज्ञान की अपेक्षा की जाती

<sup>119</sup> शतपथ ब्राह्मण 11/5/7/1

प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणमभिनिष्पादयति ब्राह्मण्यं प्रतिरूपचर्या यशो लोकपथितम् लोकः पच्यमानश्चतुर्भिर्धमैर्ब्राह्मणं भुक्त्व्यर्चया च दानने चाज्येयतया चावध्यतया च।

<sup>120</sup> वही अध्याय 5.

<sup>121</sup> तै0सं0 6.615- एष वै ब्राह्मण ऋषिरर्षयो यः शुश्रुवन।

थी।<sup>122</sup> 'ब्रह्मवर्चसम्' की प्राप्ति के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार स्वाध्याय ही माना गया था।<sup>123</sup> इसलिए स्वाध्याय और अध्यापन ब्राह्मण का सर्वोच्च कार्य कहा जाता था।<sup>124</sup> वह त्रयी (ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद) का ज्ञाता होता था। ब्राह्मण त्रयी का अध्येता अर्थात् 'त्रिशुक्रिय' या 'त्रिणुक्र' कहा जाता था।<sup>125</sup> अध्ययन और अध्यापन का कार्य ब्राह्मण का एकाधिकार था। समाज में वेदों का प्रचार-प्रसार ब्राह्मणों के कारण ही संभव था।<sup>126</sup>

ब्राह्मण वेद और शास्त्र के प्रवर्तक थे।<sup>127</sup> समाज की समस्त धार्मिक क्रियाओं का संचालन और सम्पादन ब्राह्मण के द्वारा ही होता था। पुरोहित के रूप में वह राज्य के समस्त धार्मिक क्रिया-कलापों को संपन्न करता था। ऋग्वैदिक साहित्य में केवल सात पुरोहितों का उल्लेख है, जबकि उत्तर वैदिक साहित्य में सोलह पुरोहित का उल्लेख मिलता है। यज्ञों की प्रधानता इतनी व्यापक बढ़ गयी कि सम्पूर्ण मानव जीवन यज्ञमय हो गया तथा यज्ञ को मानव का श्रेष्ठतम कर्तव्य माना जाने लगा। श्रौत यज्ञों में उसकी सहायता अनिवार्य मानी गयी तथा यज्ञों को सम्पन्न करने में ब्राह्मण ही पुरोहित होते थे। पुरोहितों की मान्यता थी कि प्रकृति की सारी व्यवस्था ही निरन्तर चलने वाला महायज्ञ है। विद्युत और सूर्य इसकी पवित्र ज्वालायें हैं तथा तड़ित मंत्र, वर्षा और नदियां इसकी हवि हैं। देवता और स्वर्ग निवासियों को यज्ञ का पुरोहित माना जाता था। ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। इनमें यज्ञों के

<sup>122</sup> तै०सं० 4.1.7.1, शतपथ ब्राह्मण 13.2.6.10

<sup>123</sup> शतपथ ब्राह्मण 2.3.31;

<sup>124</sup> वृह० उ० 4.3.35.39

<sup>125</sup> तै०ब्रा० 2.7.1.2

<sup>126</sup> वायु पुराण 57.60 संहिताश्च ततो मन्त्रा ऋषिभिर्ब्राह्मणैस्तु ते।

<sup>127</sup> मत्स्य पुराण, 21.31 'काण्डरीकोऽपि धर्मात्मा वेदशास्त्रप्रवर्तकः।

प्रकार यज्ञवैदिक के निर्माण, यज्ञकुण्ड में आहुति के तरीके विभिन्न पुरोहितों के बैठने की दिशाएँ इत्यादि का विवरण दिया गया है। किसी यज्ञ को कार्य सम्पादित कराने हेतु चार श्रेणी के पुरोहित, होता, उद्गाता, ऊर्ध्वर्यु और ब्रह्म की आवश्यकता पड़ने लगी थी। यज्ञ स्थल पर जो स्तंभ बनाया जाता था उसे यूप कहते थे।

देव-स्तवन के लिए भिन्न-भिन्न ऋचाएँ थी, जिनका पाठ ब्राह्मण करते थे। शुरु में मंत्रों की सहायता से यज्ञ किया जाता था, अपितु बाद में मंत्रोच्चार के साथ-साथ हाथों के माध्यम से यज्ञ किया जाने लगा।<sup>128</sup> पुरोहित की सहायता से लोगों का यजन-कार्य होता था, धीरे-धीरे पौरोहित्य कर्म ब्राह्मण के लिए वंशानुगत हो गया। जो ऋग्वेद में पहले कर्म आधारित था अब उत्तर वैदिक काल में कर्म आधारित न रहकर जन्म अर्थात् वंशानुगत होता चला गया। ब्राह्मण पुरोहित के नेतृत्व में ब्राह्मणोचित वेश-भूषा के साथ ही राजन्य अथवा वैश्य यज्ञ के कार्य में भाग ले सकता था।<sup>129</sup> कोई भी शासक अपने पुरोहित को हटा नहीं सकता था, अपितु जनमेजय परीक्षित द्वारा कश्यपों को अपने पुरोहित से हटा दिए जाने पर असितभृग के प्रयास से उन्हें पुनः रखना पड़ा।<sup>130</sup> इसी प्रकार विश्वन्त सौदशमन ने अपने पुरोहित को हटाने के बाद बाध्य होकर पुनः रखा। समस्त याज्ञिक और कर्मकाण्डीय कार्य ब्राह्मण पुरोहित की उपस्थिति में ही होता था। उस समय यह धारणा बन गयी थी की ब्राह्मण पुरोहित के अभाव में राजा द्वारा प्रदत्त हवनीय पदार्थ देवता स्वीकार्य नहीं करते थे।

---

<sup>128</sup> ऋग्वेद 1, 2.9.2

<sup>129</sup> ऐतरेय ब्राह्मण, 7.4.19

<sup>130</sup> वही- 7.27.18.24

पुरोहित का सामाजिक महत्व इस कथन से प्रतिपादित है कि बिना पुरोहित वाले राजा का अन्न देवता अस्वीकार कर देते थे।<sup>131</sup> पुरोहित से राजा जैसे ही परिवेष्टित रहता था जैसे समुद्र से पृथ्वी विद्वान एवं राष्ट्र-गोप पुरोहित से निर्देशित राजा की आज्ञा प्रजा स्वेच्छो से मानती थी।<sup>132</sup> ऋग्वेद में इन्द्र के पुरोहित बृहस्पति के उद्धरण से राजा के आगे पुरोहित के चलने की बात की पुष्टि मिलती है।<sup>133</sup>

ब्राह्मणों द्वारा श्रेष्ठता प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि उपनिषद युग (उत्तर वैदिक युग) में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच स्पर्धा की भावना बढ़ गयी। जिसमें राजन्य वर्ग के सदस्यों ने ब्राह्मणों की इस श्रेष्ठता को चुनौती दी। लौकिक-सत्ता सम्पन्न क्षत्रिय और आध्यात्मिक पथ प्रदर्शन-समर्थ ब्राह्मण का पारस्परिक सहयोग सुचारु-रूपेण समाज-व्यवस्था-संचालन हेतु नितांत अभीष्ट था। शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्म और क्षत्र को (समाज के लिये) अनिवार्य शक्ति माना गया है-

“ब्रह्म च क्षत्रं चाशास्त्र उभेवीर्ये”

ब्राह्मण एवं क्षत्रिय की अन्योन्याश्रयिता ऐतरेय ब्राह्मण के इस कथन ‘ब्रह्म क्षत्र में और क्षत्र ब्रह्म में प्रतिष्ठित है’।

“ब्रह्माणि खत्नु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितं क्षत्रे ब्रह्म”

इसी ग्रन्थ में इस अर्थ की पुष्टि ब्राह्मण और क्षत्रिय की तुलना द्यौ एवं पृथिवी तथा साम एवं ऋक् से की गयी है। वास्तव में पुरोहित क्षत्रिय का अर्द्धात्मा होता

<sup>131</sup> वही - 6.40.1

<sup>132</sup> वही- 8.40.2

<sup>133</sup> ऐतरेय ब्राह्मण, 8.40.3

था।<sup>134</sup> क्योंकि क्षत्रियवान् ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणों से तथा ब्राह्मणावान् क्षत्रिय अन्य क्षत्रियों से श्रेष्ठ होता था।<sup>135</sup>

विदेह शासक महाराज जनक वेदों और उपनिषदों के अपूर्व ज्ञाता थे।<sup>136</sup> अनेक ब्राह्मण विद्वान भी उनकी बौद्धिक श्रेष्ठता को स्वीकार करते थे।<sup>137</sup> ब्राह्मण ऋषि याज्ञवल्क्य ने उनसे ज्ञान प्राप्त किया था।<sup>138</sup> इस प्रकार ब्राह्मण विद्वान भी उनकी बौद्धिक श्रेष्ठता को स्वीकार करते थे। इसी प्रकार ब्राह्मण बल्कि गार्म्य ने काशीनरेश अजातशत्रु से और उद्दालक आरुणि ने कैकये राजकुमार अश्वपति से शिक्षा ग्रहण की थी।<sup>139</sup>

आर्थिक दृष्टि से भी ब्राह्मणों को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे। दान लेने का अधिकार प्राप्त था तथा वे अधिकाधिक दान प्राप्त करने का प्रयास करते थे।<sup>140</sup> ब्राह्मणों को दान प्रदान करना गौरव और महिमा की बात समझी जाती थी। ब्राह्मण को देवतातुल्य माना जाता था। जिससे उसे प्रभूत दान दिया जाता था। वैदिक युग में जुड़वे बछड़े उत्पन्न करने वाली गाय को ही ब्राह्मण दान में लेना चाहता था। ऐसी गायों का उपयोग अब्राहण नहीं कर सकते थे।

ब्राह्मण द्वारा ही राजसूय यज्ञ सम्पन्न होता था। ये ही विभिन्न प्रकार के यज्ञ भी संपन्न करते थे। ऐसा उल्लेख भी मिलता था जिसमें ब्राह्मण द्वारा प्रदत्त सत्ता से ही राजा शासन करता था।<sup>141</sup> ब्राह्मण यज्ञ में बची हुई सामग्री ही

<sup>134</sup> एतरेय ब्राह्मण, 734.8

<sup>135</sup> तैत्तिरीय संहिता, 5.51.10.3

<sup>136</sup> बृ0उ0, 4.2.1

<sup>137</sup> शतपथ ब्राह्मण

<sup>138</sup> छां0उ0, 5.11.4

<sup>139</sup>

<sup>140</sup> अथर्ववेद 5.17.89

<sup>141</sup> तै0सं0 1.7.31

ग्रहण कर सकता था। इसलिए ब्राह्मण को 'आदायी' कहा गया था।<sup>142</sup> वर्णों में ब्राह्मण ही दान प्राप्त करने वाला एकमात्र सुपात्र था, जिसमें अपने बौद्धिक और आध्यात्मिक ज्ञान के बल पर यह विशेष स्थिति प्राप्त की थी।<sup>143</sup> इस काल में अधिक महत्व के फलों की प्राप्ति हेतु कर्मकांड के साथ-साथ तपस क्रियायें भी स्थापित हो गयीं। तपस का अर्थ अपने को कष्ट देने की भावना का विकास।

इसके अन्तर्गत शारीरिक कष्ट के साथ ध्यान का महत्व बढ़ा। लोगों का विश्वास था कि इससे उन्हें न केवल स्वर्ग की प्राप्ति होगी अपितु वरन असाधारण दैवीय, रहस्यमयी शक्ति भी प्राप्त होगी। उत्तर वैदिक काल के अन्तिम भाग में चिंतक समाज में यह विश्वास बढ़ने लगा कि आनन्द और मुक्ति केवल सत्य ज्ञान से ही सम्भव है।

प्राचीन धर्मशास्त्रकारों ने धर्मच्युत होने पर ब्राह्मणों को दण्ड न देने की व्यवस्था की थी। भीषण से भीषण अपराध कर देने पर भी उन्हें अपेक्षाकृत दण्ड बहुत कम दिया जाता था। वह पूर्णरूप से अवध्य, अवन्ध्य, अदण्य, अपरिवाद्य और अपरिहार्य था।<sup>144</sup>

## क्षत्रिय —

उत्तर वैदिक काल में क्षत्रिय का मुख्य कर्म राज्य शासन एवं प्रशासन था।<sup>145</sup> यजुर्वेद में ब्रह्म तथा क्षत्रिय को एक दूसरे का पूरक कहा गया है। क्षत्रिय

<sup>142</sup> वही 7.29.2, शतपथ ब्राह्मण 2.3.1.39

<sup>143</sup> पंच० ब्रा० 13.7.12

<sup>144</sup> शतपथ ब्राह्मण, 13.35.4 ब्रह्महत्यायें प्रायश्चित्तिः।

<sup>145</sup> वाजसेनयि संहिता, 38-39

वर्ग, राजकुल से सम्बद्ध था।<sup>146</sup> ओज 'क्षत्र' और वीर्य की प्रतिमूर्ति राजन्य शासक, जनरक्षक एवं योद्धा के रूप में आख्यात हैं।

“ओजः क्षत्रं वीर्यं राजन्यः”

मात्र शासन कार्य सम्बन्धी विशेषाधिकार ब्राह्मणों को अप्राप्त था (न वे ब्राह्मणों राज्यायालम्)। युद्ध राजन्य का अनिवार्य कार्य था 'युद्धं वै राजन्यस्यावीर्यं'। क्षत्रिय रथ एवं वाण से सुसज्जित रहते थे।

“रथेन न शरेण च राजन्य-बान्धवः”<sup>147</sup>

राजा के लिये सामान्यतः राजन् और राजन्य शब्द मिलते हैं किन्तु कहीं-कहीं उसे मात्र क्षत्रिय भी कहा गया है यथा “इमा विशः क्षत्रियाय वलिं हरन्ति<sup>148</sup> में क्षत्रिय शब्द राजन् का पर्यायवाची है।

क्षत्रिय प्रशासन और सैनिक योग्यता का परिचय देता है तथा अपितु 'राजन्य' के रूप में वह राज परिवार का भान कराता है। उत्तर वैदिक काल में राजा शासक मात्र ही नहीं था अपितु उच्चकोटि का शिक्षक तथा दार्शनिक, विद्वानों का संरक्षक इत्यादि था। विदेह शासक राजा जनक, पांचाल नरेश प्रवहण जैवालि, काशी नरेश अश्वपति, तथा कैकेय क्षत्रिय थे। परन्तु प्रसिद्ध विद्वान थे जिनके पास सुशिक्षित ब्राह्मण भी आगे की शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। उच्च अध्यापन हेतु पांचाल परिषद् जैसे नियमित संगठन थे जिनके संरक्षण प्रवहण जैवालि थे। ब्राह्मण श्वेतकेतु के पिता उद्दालक पंचग्नि विद्या के

<sup>146</sup> अथर्ववेद 7.103. को अस्या वो द्रुहोऽवधवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो इच्छन्। को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः।।

<sup>147</sup> शतपथ ब्राह्मण 1.2.4.2

<sup>148</sup> वही, 1.3.2.15

प्रवर्तक क्षत्रिय पांचाल नरेश प्रवाहण जैबलि के पास ज्ञान प्राप्ति के लिए गये। प्रवाहण जैबलि स्वयं उद्दालक ऋषि को आसन और अर्घ्य प्रदान करके उनका सस्नेह सम्मान किया और तदुपरान्त उन्हें अपना अन्तेवासी बनाकर उसकी जिज्ञासाओं का समाधान किया।<sup>149</sup>

कुरु पांचाल के उद्दालक आरुणि जैसे परिव्राजक विद्वान शस्त्रार्थों का आयोजन करके ज्ञान को अन्य क्षेत्रों तक पहुँचाते थे। क्षत्रिय केकय-नरेश, अश्वपति के यहाँ कुछ विद्वानों के साथ ब्राह्मण ऋषि उद्दालक वैश्वानर-विद्या के अध्ययन के लिए गए। अश्वपति ने उनका यथावत स्वागत करने के पश्चात उन्हें उपदेश दिया।<sup>150</sup> विदेह राजा जनक ने अपने अश्वमेघ यज्ञ के समय एक सम्मेलन बुलाया था। इसमें याज्ञवल्क्य को 1000 गाय जिनकी सींगों पर स्वर्ण बंधा था, पुरस्कार स्वरूप मिला था। याज्ञवल्क्य महान तत्वज्ञानी थे। ये उद्दालक आरुणि के शिष्य थे तथा बाद में जनक के भी शिष्य हो गये। क्षत्रिय विदेह-शासक जनक से याज्ञवल्क्य ने स्वयं ज्ञान प्राप्त कर तदुपरान्त उनके निर्देशन में अनेक विद्वद्गोष्ठियां आयोजित कर जिनमें दर्शनशास्त्र पर विचार-विनिमय किया जाता था।<sup>151</sup> धर्म-दर्शन के वाद विवाद में राजा जनक ने ब्राह्मणों को परास्त कर बदले में ब्रह्मज्ञान के कारण उन्हें 'ब्राह्मण' कहा गया था।<sup>152</sup>

<sup>149</sup> छा0उ0, 5.3.6 सह गोतमो राज्ञोऽधर्ममेमाय तस्मैह प्राप्तायार्हाचकारः, बृ0उ0, 6.2.4 आजगाम गौतमो यत्र- प्रवाहणस्य जैबलेरास। तस्मा आसनमाहत्योदक माहारयाचकाराय हास्य अर्घ्य चकार।

<sup>150</sup> छा0उ0 5.11.5 तेन्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयाचकार।

<sup>151</sup> वृ0उ0, 3.1 ऊँ जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपुत्राणां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेशस्य विजिज्ञासा बभूक कः सिवदेषां ब्राह्मणानामन् चानतम इति स ह गवां सहस्रमवरुोध दश, दश पादा एकैकस्याः ऋङ्गयोराबद्धा बभूवुः।

<sup>152</sup> शतपथ ब्राह्मण 11.6.25- वैदिक इंडेक्स पृ0 272.



ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर वैदिक कालीन क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के दार्शनिक पक्ष और तार्किक बुद्धि को समझते हुए समान रूप से अग्रसर होकर दार्शनिक समीक्षा की। पौराहित्य, यज्ञिक क्रियाओं आदि से पारंगत होकर कुछ क्षत्रिय शासकों ने ब्राह्मणों के आचार्यत्व के एकाधिकार को चुनौती दी और अनेक ब्राह्मणों को दीक्षा प्रदान किया।

उत्तर वैदिक युग में राजन्य अर्थात् क्षत्रिय वर्ग ने देश और समाज में अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर दिया। राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय ऊँचे सिंहासन पर बैठते थे तथा उससे नीचे के आसन पर ब्राह्मण बैठते थे, ब्राह्मण क्षत्रिय की उपासना करता था। यहीं नहीं ब्रह्म को क्षत्रिय की योनि माना गया।<sup>153</sup> क्षत्रिय वर्ग अपने सैन्य संचालन और शासन व्यवस्था तथा राजकीय अधिकारों प्रशासनिक कार्यों के कारण वे एक दूसरे वर्ग से पूर्णतः अलग थे।<sup>154</sup> क्षत्रिय ऊँचे सिंहासन पर बैठते थे तथा उससे नीचे के आसन पर ब्राह्मण बैठते थे, ब्राह्मण क्षत्रिय की उपासना करता था। यहीं नहीं ब्रह्म को क्षत्रिय की योनि माना गया।<sup>155</sup> उत्तर वैदिक काल में ऋग्वैदिक काल की अपेक्षा राजा की शान-शौकत तथा शक्ति में वृद्धि हुई, लोक संस्थाओं में आयी गिरावट के कारण भी राजा की शक्ति बढ़ी। जिसमें अनेक प्रकार के यज्ञ किया जाता था। जिसमें राजसूय यज्ञ इसके अन्तर्गत राजा शपथ ग्रहण करता था, यदि मैं तुम्हें सताऊँ तो मेरे जन्म होने के दिन से, मेरे मरने के दिन तक जो कुछ मेरे अच्छे कर्म है, मेरा, स्वर्ग, मेरा जीवन और मेरा वंश मुझसे छूट जाए।'

<sup>153</sup> वृ०उ० 1.4.11 तस्मात्क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्ताद्पास्ते राजसूर्ये क्षत्र एवं तदृशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्पद्ब्रह्म।

<sup>154</sup> का०सं० 274

<sup>155</sup> रामायण 2.106

राजा सभी दिशाओं की तरफ मुख करके सभी दिशाओं का समर्थन प्राप्त करने का आशीर्वाद प्राप्त करता था। राजा को धनुष व तीन वाण दिया जाता था जिसका सांकेतिक अर्थ है कि वह तीनों लोक की रक्षा करेगा।

## वैश्य –

ऋग्वेद में 'वैश्य' शब्द का उल्लेख नहीं मिलता, किंतु पुरुष सूक्त में 'वैश्य' आया है। सर्वप्रथम 'उत्तरवैदिक साहित्य में वैश्य शब्द मिला। उत्तरवैदिक काल में 'वैश्य' वर्ण को 'अन्यस्य वलिकृत' कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय की अपेक्षा 'वैश्य' का स्थान तीसरे स्थान पर था। विभिन्न प्रकार के व्यवसायों के द्वारा राष्ट्र की समृद्धि बढ़ाने में तत्पर वैश्य वर्ण की अपेक्षा नहीं हो सकती थी। वैश्य वर्ग का मुख्य कार्य पशुपालन एवं अन्नोत्पादन था।<sup>156</sup>

तैत्तिरीय संहिता में आया है— पशुओं की कामना करने वाले वैश्य सचमुच यज्ञ करते हैं। जब देवता लोग पराजित हो गये तो वे वैश्य की दशा को प्राप्त हो गये या असुरों के विश बन गये।<sup>157</sup> इसी ब्राह्मण ने यह भी लिखा है कि विश् ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों से पृथक रहते हैं। ताण्डव ब्राह्मण में यह आया है कि वैश्य ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों से निम्न श्रेणी के हैं (ताण्ड्यमहाब्राह्मण 6/1/10)

ऐतरेय ब्राह्मण (35/3) के अनुसार वैश्य अन्न लोगों का भोजन है और कर देने वाला है। उपयुक्त बातों से स्पष्ट है कि वैश्य यज्ञ कर सकते थे, पशु पालन करते थे, दोनों ऊँची जातियों की अपेक्षा संख्या में अधिक थे, उन्हें कर

<sup>156</sup> तै0सं0 7.1.1.7

<sup>157</sup> पशुकामः खलुवैश्यों यजते तैत्तिरीय संहिता 2/5/10/2, ते देवाः पराजिग्याना असुराणां वैश्यनुपायन्। तैत्तिरीय संहिता 2/3/7/1

देना पड़ता था, वे ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों से दूर रहते थे और उनकी आज्ञा पालन करते थे।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (1/1/4) में उल्लेख है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, एवं वैश्य क्रम में वसन्त ऋतु, ग्रीष्म एवं शरद ऋतु में यज्ञ करे, किन्तु रथकार वर्षा ऋतु में यज्ञ करे। वैश्य को उपनयन और वेदाध्ययन के अधिकार प्राप्त थे तथा ब्राह्मण और क्षत्रिय की तरह ये भी यज्ञिय (यज्ञ करने योग्य) थे। तैत्तिरीय संहिता पशुओं की कामना से वैश्य के यज्ञ करने की बात आती है। इसी ग्रन्थ में मानव-समाज में वैश्य का स्थान पशु-समाज में गाय के सदृश बताकर यह कहा गया है कि अन्य वर्ण उस पर जीविका के साधनों के लिए निर्भर करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि समाज में उत्पादन कार्य वैश्यवर्ण का उत्तरदायित्व था।

ऐतरेय ब्राह्मण में वैश्य अन्य को कर देने वाला (अन्यस्याद्यः) तथा इच्छानुसार पराजित किये जाने योग्य (यथाकामंजेयः) वर्णित है। संख्या की दृष्टि से यह वर्ण अन्य वर्णों से अधिक संख्या सम्पन्न था तथा इस वर्ग के पास अधिक सम्पत्ति (गायें) थी।<sup>158</sup> शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि क्षत्रिय का वशवर्ती वैश्य पशु प्राप्त कर सकता था, जिसका अभिप्राय उसे क्षत्रिय का अनुगामी बताना प्रतीत होता है। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि वैश्य की सम्पत्ति सुरक्षित रहती थी आपत्काल उसे क्षत्रिय से संरक्षण प्राप्त रहता था।

वैश्य वर्ण व्यवसाय में कृषि एवं पशुपालन से जुड़ा था तथा वह देवकर्म एवं यज्ञिक कर्म में सहयोग देता था। इस प्रकार याज्ञिक क्रियाओं में

<sup>158</sup> ताण्ड्य ब्राह्मण, 6.1.10

वैश्य-समुदाय का सहयोग आवश्यक माना गया था।<sup>159</sup> वैश्यों के प्रति ब्राह्मण-दृष्टिकोण का अनुमान शतपथ ब्राह्मण में मधु ग्रह यज्ञ के वर्णन से होता है। उस यज्ञ में अध्वरु पुरोहित क्षत्रिय और वैश्य की पाण (प्याला) देते समय क्षत्रिय के लिए सत्य, श्री और ज्योति की तथा वैश्य के लिए, असत्य, कष्ट और तम की कामना करता था।

वैश्य वर्ण की सबसे बड़ी आकांक्षा गाँव की मुखिया (ग्रामणी) बनने में थी।<sup>160</sup> वैश्य उस विशाल जनसमुदाय का प्रतिनिधित्व करते थे जिसमें से ब्राह्मणों और क्षत्रियों का चयन होता था। उत्तर वैदिक सामाजिक संगठन में वैश्य राजाओं के परिजन होते थे तथा जन सामान्य की कोटि में स्थापित हुए। वैश्य समुदाय को उत्पादन संबंधी काम सौंपा गया जैसे कृषि, पशुपालन इत्यादि। इत्यादि। उनमें से कुछ वैश्य लोग (पंसारी) या शिल्पी का कार्य करते थे। वैदिक काल का अन्त होते-होते वैश्य वर्ण व्यापार को अपनाने लगे थे। ऐसा लगता था कि उत्तर वैदिक काल में राजस्व कर केवल वैश्य लोग ही चुकाते थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग दोनों वैश्यों से प्रायः राजस्व पर ही जीते थे।

तैत्तिरीय संहिता के अनुसार इस वर्ग का मुख्य कर्म कृषि-कर्म और पशुपालन था। शतपथ ब्राह्मण तथा छान्दोग्य उपनिषद में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्गों के बीच परस्पर अच्छे संबंध की कामना की गई है।<sup>161</sup> ~~नितान्त अभीष्ट~~ था। शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्म और क्षत्र को (समाज के लिये) ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि वैश्य राजस्व का देनदार है और राजा जब चाहें उसका दमन कर

<sup>159</sup> ऐतरेय ब्राह्मण, 1.9

<sup>160</sup> वही, 8.12.5

<sup>161</sup> ऋग्वेद 7.62.2, 8.25.8

सकता है।<sup>162</sup> उपनिषद् काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्गों की घनिष्ठ सम्बन्ध की आशा की गयी है। ऋग्वैदिक काल में क्षत्रियों और वैश्यों में इतना अंतर न था जितना की बाद में हो गया। इसीलिए उत्तरवैदिक काल के साहित्य में कहा गया है कि क्षत्रिय वैश्य की सम्पत्ति का उपभोग करता है। वैश्य क्षत्रिय को इसलिए धन देता था कि वह उसकी रक्षा करता था, और ब्राह्मण को यज्ञों में दक्षिणा के रूप में धन देता था। ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य के यश को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की जाती थी।<sup>163</sup>

तद्य इह रमणीयाचरणा अभ्याशो ह यत्ते। रमणीयां योनिमापघेरन् ब्राह्मणं  
बोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा, 8.14.1 यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो  
राज्ञां यशो विशाम्..।

## शूद्र =

उत्तर वैदिक काल में 'शूद्रों' की स्थिति उत्तरवैदिक सामाजिक चिन्तकों ने ऋग्वैदिक विचारधारा का अनुकरण कर इनकी उत्पत्ति प्रजापति के पैरों से बताया है।<sup>164</sup> तथा सभी वर्णों के प्रिय होने की कामना की है।<sup>165</sup> कुछ ऐसे प्रसंग आए हैं जिनमें शूद्रों के अनुचर जन्य कर्मों का उल्लेख है। जैमिनीय ब्राह्मण में कहा गया है कि शूद्र की उत्पत्ति प्रजापति के पाँव से हुई है और उसका कोई

<sup>162</sup> ऐतरेय ब्राह्मण

<sup>163</sup> छान्दोग्य उपनिषद्, 5.10.7

<sup>164</sup> अथर्ववेद 19/32/5

<sup>165</sup> प्रियं सर्वस्य पश्यत् उत शूद्र उतायै।। अथर्ववेद।

देवता नहीं है। गृहस्वामी उसके देवता हैं और उनका चरण पखारकर ही उसे अपना जीवन निर्वाह करना है।<sup>166</sup>

उत्तर वैदिक समाज में शूद्रों की श्रेणी में अन्य लोग भी आ गये और उनकी संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुयी। यही ऋग्वैदिक समाज में अनार्य (दास, दस्यु) ही शूद्र कहलाये। शूद्रों का कार्य तीन वर्णों की सेवा करना था। इसी को सम्पन्न करके वह सबका प्रिय हो सकता था। पंचविश ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है कि शूद्रों को देवताहीन बताया गया है।<sup>167</sup> किन्तु इसी काल में कुछ ग्रंथों में शूद्रों के देवता के रूप में पूषन<sup>168</sup> तथा दिन रात का उल्लेख आया है।<sup>169</sup> शूद्रों को देवताहीन गृहपति को ही देवता बताकर व्यवस्थाकारों ने स्पष्टतः समाज में उनकी हीन स्थिति तथा द्विजों की प्रमुखता का भाव व्यक्त किया और शूद्रों का कार्य चरण पखारना बताकर उनके कर्तव्यों का स्मरण दिलाया। शूद्रों के कर्तव्य में एक परवर्ती श्रौत के अनुसार उसे उच्च वर्ण के लोगों की सेवा करके अपना निर्वाह करना है।<sup>170</sup>

उत्तर वैदिक काल में खेती का प्रचार अवश्य हुआ, पर इतनी जमीन किसी परिवार के पास नहीं थी जिसके लिए उसे खेतिहर मजदूरों की आवश्यकता पड़े। अतएव शूद्र इस काल में खेत-मजदूर के रूप में नहीं पाए

<sup>166</sup> जैमिनीय ब्राह्मण, I. 68.69. शूद्रों अनुष्टूपछन्दा वेश्मपतिदेवसः तस्माद् उपादावनेज्यैनैवजिजिविषति ।

<sup>167</sup> पंचविश ब्राह्मण, 6/1/6-11

<sup>168</sup> बृ0उप0 1/4/11-13

<sup>169</sup> शतपथ ब्राह्मण 8/4/3/12

<sup>170</sup> सत्याषाढ श्रौतसूत्र, XXVI, 1-7 शूश्रूषा शूद्रस्येतरेषां वर्णानाम् ।

जाते हैं। यह एक पूर्वकालीन उपनिषद् में शूद्र को 'पूषन' या 'पोषक' कहा गया है।<sup>171</sup>

वाजसनेयि संहिता में उल्लेख मिलता है कि पुरुषमेध यज्ञ में ब्राह्मण ब्रह्मत्व को, राजन्य राज्य को, वैश्य मरुत (कृषक-समुदाय) को और शूद्र तप (शारीरिक श्रम) को बलि चढ़ाया जाना चाहिए।<sup>172</sup> यह समझा जाता था कि शूद्र श्रमसाध्य कार्य करने वाले हैं। वैदिक इण्डेक्स में शूद्र को कृषिदास कहा गया है। यज्ञ में बलि दिए जाने वाले लोगों की सूची में चारों वर्णों के पश्चात विभिन्न प्रकार के पेशेवर लोगों का स्थान आता है, तथा, रथनिर्माता, बढई, कुंभकार, लोहार, सर्राफ, चरवाहा, गड़ेरिया, किसान, मद्यनिर्माता, मछुआ और शिकारी इन्हें वैश्य अथवा शूद्रों की कोटि में रखा जा सकता है। निषाद, किरात, पर्णक, पौलकस और वेद<sup>173</sup> संभवतया शूद्र समझे जाते थे।<sup>174</sup>

यद्यपि वैदिक इण्डेक्स के लेखकों का कथन है कि 'शूद्र' शब्द से दास का भी बोध होता था। किन्तु दासों की संख्या बहुत कम थी। ऐतरेय ब्राह्मण में से ज्ञात होता है कि 'अंग' देश के राजा ने विभिन्न देशों से दस हजार दासियों को बंदी बनाया था, और उन्हें अपने ब्राह्मण पुरोहित आत्रेय को समर्पित किया था।<sup>175</sup> श्वेतकेतु के पिता आरुणि को इस बात का गर्व है कि उसके पास स्वर्ण,

<sup>171</sup> बृहदारण्यक उपनिषद्, 14.13

<sup>172</sup> वाजसनेयि संहिता, XXX.5

<sup>173</sup> तैत्तिरीय ब्राह्मण, III 4.2.17

<sup>174</sup> वैदिक इण्डेक्स II पृ0 267

<sup>175</sup> ऐतरेय ब्राह्मण, V III. 22 देशाद्-देशात् समोहलानां सर्वासाम् आद्यदुहितृणाम्; दशाददात् सहस्राणि आत्रेयो निष्कण्ठयः

मवेशी, घोड़े, दासियाँ अमले और बंदियां हैं, किंतु वह पुरुष दास की चर्चा नहीं करता।<sup>176</sup>

परवर्ती वैदिक काल में 'विश' का शिल्पी वर्ग शूद्र की स्थिति में पहुँच गया था, फिर भी ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे सिद्ध हो सके कि वे जिन शिल्पों या कृषिकर्मों से लगे हुए थे, लोगों के मन में निश्चित भावना थी कि इसकार्य में सहायता दी जाए और इससे संलग्न रहने वालों को प्रोत्साहन तथा सम्मान मिले। इसके लिए वे कई प्रकार के घरेलू कर्मकांड और तंत्र-मंत्र करते थे।<sup>177</sup>

राजसूय यज्ञ के एक अन्य समारोह में भी शूद्र की चर्चा मिलती है, जिसमें यजमान प्रथमतः ब्राह्मण को स्वर्ण प्रदान करता है, और उससे दीप्ति खरीदता है, तब राजन्य को तीन तीर के साथ धनुष देकर कांति खरीदता है, तत्पश्चात् वैश्य को अंकुश देता है और उससे पुष्टि प्राप्त करता है और अंततः शूद्र को भाषा पात्र देता है जिससे दीर्घ आयु खरीदता है।<sup>178</sup> संभवतया, शूद्र राजसूय यज्ञ के एक ओर समारोह से संबद्ध है, जिसमें नव भिषिक्त राजा को आकाश की चारों दिशाओं में आरोहण करने को कहा जाता है और पूर्व दिशा में ब्रह्म से, दक्षिण में क्षत्र से, पश्चिम में विश् से तथा उत्तर में फल, वर्चस् और पुष्टम् से निवेदन किया जाता है कि वे राजा की रक्षा करें।<sup>179</sup>

<sup>176</sup> बृहदाण्यक उपनिषद्, V1.2:7 इसमें भूमि की चर्चा नहीं है।

<sup>177</sup> अथर्ववेद, III 24. VI 142.

<sup>178</sup> काठक संहिता, XXXVIII.

<sup>179</sup> फल और बर्चस् वाजसनेयि संहिता, X. 10-13 में, X.10-13 में बल और बर्चस् तैत्तिरीय संहिता में आए हैं।



युधिष्ठिर के महान राजसूय यज्ञ में संभ्रांत शूद्रों को आमंत्रित किया गया था।<sup>180</sup> शुक्ल और कृष्ण दोनों यजुः संहिताओं में पाए जाने वाले एक मंत्र<sup>181</sup> के अनुसार राजसूय यज्ञ के अवसर पर 'विश' के बीच प्रतिष्ठापित राजा<sup>182</sup> अर्य और शूद्र के प्रति किए गए पाप के प्रायश्चित्त के लिए सूर्य से प्रार्थना करता है। शतपथ ब्राह्मण में एक आयोगव राजा मरुत अविक्षित का अद्वितीय विवरण मिलता है। यह अश्वमेघ यज्ञ करता है और मरुत उसके अंगरक्षक, अग्नि उसके प्रतिहार और विश्वदेव उसके सभासद के रूप में कार्य करते हैं।<sup>183</sup>

अश्वमेघ यज्ञ का आयोजन चारों वर्णों को जीतने के उद्देश्य से किया जाता था, जिससे मालूम होता है कि शासक आवश्यक समझता था कि समाज के सभी वर्गों की निष्ठा उसे प्राप्त हो।<sup>184</sup>

एक अन्य परिच्छेद से भी ऐसी धारणा बनती है। इसके अनुसार राजसूय यज्ञ के अवसर पर पुरोहित राजा को दीप्ति, शक्ति, संतति और सुदृढ़ स्थिति की प्राप्ति में सफलता प्रदान करता है। ये गुण क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में पाए जाते हैं।<sup>185</sup> इसी का स्पष्ट परिच्छेद तैत्तिरीय संहिता में मिलता है।<sup>186</sup> इसके अनुसार राजन्य को अग्न्याधानमन्त्र तीन बार पढ़ना पड़ता है,

<sup>180</sup> महाभारत, II. 30.41 विशश्च मायाशूद्राश्च सर्वानानपतेति च.

<sup>181</sup> वासनेपि संहिता, XX. 17 (सौत्रामणि यज्ञ के अवसर पर)

<sup>182</sup> वासनेपि संहिता, XX.9

<sup>183</sup> शतपथ ब्राह्मण, XIII 5.4.6

<sup>184</sup> जेमि0 ब्राह्मण II. 266-267

<sup>185</sup> ऐतरेय ब्राह्मण, VII.29

<sup>186</sup> तैत्तिरीय संहिता, III. 5.10

क्योंकि उसे योद्धा की निष्ठा के अतिरिक्त तीन अन्य वर्णों, यथा ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र की आज्ञाकारिता भी प्राप्त करनी होती है। इन बातों से स्वयं स्पष्ट होता है कि इस युग में परवर्ती ग्रंथों की तरह, शूद्रों की आज्ञाकारिता भी प्राप्त करनी होती है। इन बातों से स्वयं स्पष्ट होता है कि इस युग में परवर्ती ग्रंथों की तरह, शूद्रों की आज्ञाकारिता स्वयंसिद्ध थी।

सभी यजुः संहिताओं में एक महत्वपूर्ण परिच्छेद आया है, जिसमें अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह पुरोहितों योद्धाओं, वैश्यों और शूद्रों को प्रभा प्रदान करे।<sup>187</sup> उत्तर वैदिक काल के समाज में शूद्र के कार्य की समीक्षा ऐतरेय ब्राह्मण से की जा सकती है। इनके अनुसार कहा जा सकता है कि वेदकालीन राज्यव्यवस्था शूद्र का स्थान सर्वथा गुलाम जैसा था।<sup>188</sup> अथर्ववेद के आरम्भिक भाग में शूद्र को जनजाति माना गया है, शूद्र का उल्लेख तो सामान्य रूप में एक भी संहिता में नहीं हुआ है, किंतु यजुर्वेद के सभी संहिताओं की प्रस्तुत सूची में रथकारों कुलालों (कुंभकारों) कर्मारों, निषादों (मछुओं या बहेलियों का काम करने वाले आदिम जाति के लोग) इत्यादि जिन्हें चतुर्थ वर्ण में रखा जा सकता है। ये शिल्पी और जनजाति के लोग अपने संरक्षक देवता के रूप में रुद्र की पूजा करते थे।

<sup>187</sup> तैत्तिरीय संहिता V. 7.6.4. रुचं वैश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचारुचम्

<sup>188</sup> ऐतरेय ब्राह्मण, V II. 29.

ब्राह्मण ग्रंथों से पता चलता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों निम्न वर्णों के साथ जिनमें शूद्र भी आते हैं— अंतर्जातीय विवाह कर सकते थे, जैसा कि वत्स और कवष के दृष्टांत से स्पष्ट होता है। वत्स को उसका भाई मेघातिथि शूद्र—पुत्र कहता था, जिससे स्पष्ट होता है कि प्रायः इस शब्द का प्रयोग अपमान—जनक शब्द के रूप में नहीं होता था। कहा जाता है कि वत्स ने आग पर निरापद—चलकर अपना ब्राह्मणत्व को प्रमाणित किया और इस प्रकार कलंक को मिटाया। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि किसी व्यक्ति की सामाजिक मर्यादा उसके वंश से नहीं, बल्कि उसकी योग्यता से निर्धारित होनी है, इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण के लेखक महीदास के बारे में बताया गया है कि वह शूद्र था।

उत्तर वैदिक काल में धार्मिक जीवन में शूद्र का स्थान की समीक्षा करने पर मालूम पड़ता है कि 'रथकार' और 'निषाद' के अतिरिक्त जो वैदिक यज्ञ में भाग ले सकते थे, शूद्र वर्ग के अपने देवता थे और शूद्र भी कतिपय वैदिक कर्मों में सम्मिलित हो सकता था। वैदिक कमकांडों के विश्लेषण से शूद्रों की जो चित्र उभरता है, वह सुसंगत और समनुरूप नहीं मालूम होता।

उत्तर—वैदिक काल में शूद्रों की स्थिति के संबंध में जो उल्लेख है उनके अंतर्विरोध की व्याख्या अंशतः उन प्रसंगों के कालक्रम के आधार पर की जा सकती है। साधारणतया धार्मिक अनुष्ठान में, जो जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त था, शूद्रों के सहभाग या सहयोग का निषेध केवल उत्तरकालीन ग्रंथों में दिखाई

पड़ता है। आर्य जाति के सदस्य के रूप में शूद्र ने विभिन्न कर्मों में भाग लेने के अपने जनजातीय अधिकारों को उस समय भी कायम रखा, जब उसे दास की कोटि में रख दिया गया था। उत्तर वैदिक काल में सुधारवादी आंदोलन से आगे बढ़ी, पर गृहसूत्र और धर्मसूत्र को संकलनकर्ताओं ने विरोधी विचारधाराओं को चालू रखा, जिसमें शूद्र वर्ण की अशक्ताएँ और भी बढ़ती गईं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शूद्रों को इस काल में हीन दृष्टि से देखा गया तथा उनसे सेवा तथा अन्य प्रकार के कार्य लेने की दृष्टि से उनका पूर्ण उपयोग किया गया। इसी कारण कहीं उसे अधिकार दिये गये तो कहीं प्रतिबन्ध लगाये गये। शूद्रों की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में वैचारिक मतभेद इस काल में बहुत स्पष्ट है। यही कारण है कि कहीं उनके अधिकार अत्यन्त सीमित है तो कहीं पर्याप्त अधिकार प्रदान किये गये हैं।

\*\*\*\*\*